ॐ

अध्यात्म वार्ता

श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द

श्री पुरुषोत्तमानन्द ट्रस्ट
बसिष्ठ गुफा आश्रम,
गूलर दोगी जि0 टिहरी गढ़वाल
पिन - 249303

ॐ

अध्यात्म वार्ता

श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द

श्री पुरुषोत्तमानन्द ट्रस्ट
वसिष्ठ गुफा आश्रम,
गूलर दोगी जि०. टिहरी गढ़वाल
पिन-249 303

प्रकाशक

स्वामी चैतन्यानन्द

श्री पुरुषोत्तमानन्द ट्रस्ट
वशिष्ठ गुहा आश्रम, गूलर दोगी-२४९-३०३
जिला टिहरी गढ़वाल यू०पी० (हिमालय)

द्वितीय संस्करण, २०००

मुद्रक:-
सेमवाल प्रिंटिंग प्रेस, ऋषिकेश

अनुक्रमणिका

भूमिका

सन् १९५४ में पतित-पावनी भागीरथी के तट पर तीर्थराज प्रयाग में स्थित श्री एस०एन० कक्कर जी के विशाल भवन में मैंने कुछ महीनों तक निवास किया। प्रतिदिन संध्याकाल में कतिपय जिज्ञासुगण अध्यात्म-जीवन की समस्याएँ लेकर उपस्थित होते थे एवं प्रायः मैं उस विषय पर प्रवचन करता था। प्रवचन के उपरान्त तत्काल ही प्रश्नोत्तर होते थे। जो भी प्रश्नोत्तर होते थे वे नियमित रूप से अक्षरबद्ध कर लिये जाते थे। कुछ भक्तगणों का ऐसा विश्वास है कि ये टिप्पणियां साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगी। अतः उनकी अशुद्धियां दूर कर उनका चयन इस पुस्तिका के रूप में किया गया है।

इस पुस्तिका को मैं अपने गुरू श्री महाराज जी के जो रामकृष्ण मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे, श्री चरणों में सभक्ति समर्पण करता हूं।

उनके साथ जो मेरा अल्पकाल का परन्तु बड़ा ही महत्वपूर्ण सम्पर्क हुआ उसके संस्करण का एक अध्याय भी मैंने इसमें जोड़ दिया है।

वशिष्ट गुहा
ऋषिकेश,
भारतवर्ष

पुरुषोत्तमानन्द

प्राक्कथन

पूज्य गुरुदेव श्री श्री मां आनन्दमयी जी की असीम अनुकम्पा से मई सन् १९६५ में मुझे वशिष्ठ गुहा आश्रम में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उक्त काल में आश्रमवासियों ने प्रातः स्मरणीय, परम-विरक्त, तपोनिष्ठ, सिद्धशिरोमणि स्वामी, पुरुषोत्तमानन्द जी के **'Spiritual talks'** नामक पुस्तिका का हिन्दी अनुवाद करने का मुझसे आग्रह किया जिसके फलस्वरूप यह अनुवाद पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

पूज्यपाद स्वामी जी ही वशिष्ठ गुहा आश्रम के जन्मदाता थे। आपका जन्म २३ नवम्बर सन् १८७९ को त्रावनकोर के तिरुवल्ला नामक नगर में नायर परिवार में हुआ। आपकी माता का नाम पार्वती अम्मा और पिता का नाम श्रीनारायण नायर था। आपका जन्म का नाम नीलकंठन रखा गया। कुशाग्रबुद्धि होने पर भी रोग पीड़ित होने के कारण आप लगभग मैट्रिक तक ही पढ़ सके। आपका जीवनकाल गीता, भागवत आदि ग्रन्थों के पढ़ने में, त्याग और तपस्या में, श्रीरामकृष्ण आश्रम कायम करने एवं उनका संचालन करने में, तीर्थभ्रमण में, वसिष्ठ गुहा आश्रम की स्थापना एवं उनका संचालन करने आदि में बीता। आप आजन्म अविवाहित ही रहे। बचपन से ही आपमें श्रीरामकृष्ण देव के प्रति परम भक्ति थी। आपने स्वामी रामकृष्ण देव के शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज से मन्त्र, दीक्षा और श्री शिवानन्द जी महाराज (महापुरुष जी महाराज) से सन्यास की दीक्षा ली जिसका हृदयस्पर्शी वर्णन आपके प्रस्तुत पुस्तिका में किया है। आपका सन्यास का नाम 'स्वामी पुरुषोत्तमानन्द' पड़ा।

सब कुछ करते हुए भी आप सदैव सहज-समाधि में लीन रहते थे एवं आपका जीवन एकमात्र लोककल्याण के लिए ही था। प्रस्तुत पुस्तिका के अतिरिक्त अंग्रेजी में 'A Peep into the Gita' तथा मलयालम् में 'आत्मकथा' आपकी अन्य दो रचनाएँ हैं। आपने महाशिवरात्रि ता० १३ फरवरी १९६१ को महासमाधि ली।

ऋषिकेश से लगभग २२ किमी. दूर देवप्रयाग जाने के मार्ग पर पर्वतराज हिमालय से एवं पतितपावनी भगवती भागीरथी के एकान्त, मनोहर तट पर स्थित, मनोरम शैलमालाओं से आवृत आपका पवित्र आश्रम हमें प्राचीन ऋषियों के निष्काम कर्मठ जीवन की याद दिलाता है।

अध्यात्म प्राण भारतवर्ष में आज जहां एक ओर अध्यात्म को' क्षुरस्य धारा' मानकर उस पर चलना सर्व-साधारण के लिए असम्भव बताया है वहीं दूसरी ओर उसे पलायनवाद का पर्यायवाची भी माना जाता है, जबकि वस्तु स्थिति इन दोनों से भिन्न है। प्रस्तुत पुस्तिका में पूज्य स्वामी जी ने अध्यात्म की जटिल गुत्थियों को अत्यन्त सरल भाषा में समझाने का प्रयत्न किया है एवं इस प्रकार असम्भव को सम्भव, दुर्लभ को सुलभ तथा कष्टसाध्य को सुखसाध्य बनाया है। पूज्य स्वामी जी के एक -एक शब्द अमूल्य हैं, पुनः-पुनः विचारणीय हैं, कठोर तपस्या की अग्नि में तपाये गये हैं, प्रेमरस से परिपूरित हैं, आचरण में ढाले जाने योग्य हैं एवं 'गागर में सागर' हैं।

प्रस्तुत अनुवाद में मैनें सदा यह प्रयत्न किया है कि

अनुवाद न केवल सरल और शब्दशः (literal) हो अपितु भावों की पूर्ण रक्षा हो। पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तिका से हिन्दी भाषा-भाषी पाठकों को 'अध्यात्म-जीवन' के विषय में काफी जानकारी होगी, उनके भ्रम दूर होंगे एवं वे लाभान्वित होंगे।

त्रुटियों के लिए सदैव क्षमाप्रार्थी हूँ।

वशिष्ट गुहा आश्रम
१ जून, १६६५

विनीत
यादवकृष्ण अवधिया
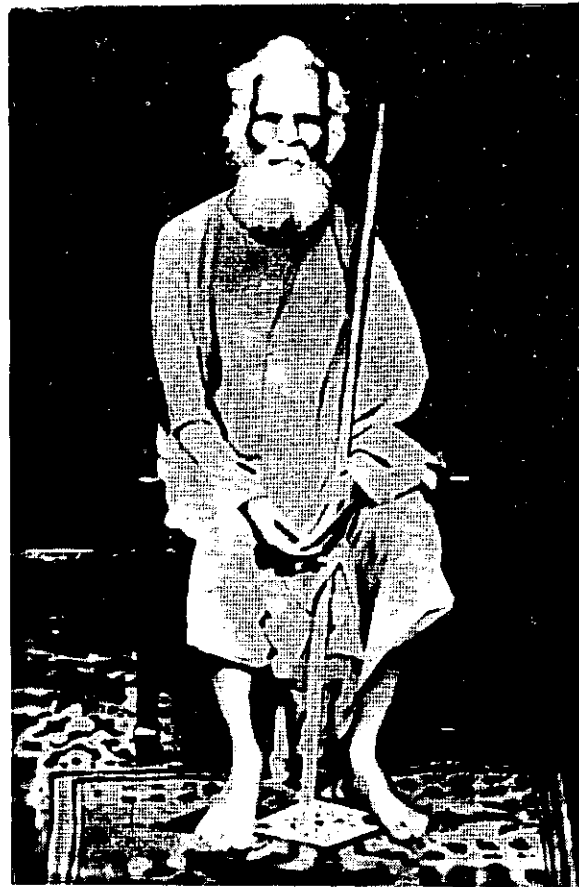
श्री स्वामी पुरुषोत्तमानन्द महाराज

पहला अध्याय

हमें किसकी तलाश हैं? आनन्द की

प्रत्येक जीव प्रतिक्षण किसी न किसी वस्तु की आकांक्षा करता है। वह स्पृहणीय वस्तु गोचर हो सकती है यथा संपत्ति अथवा संतति अथवा वह वस्तु अगोचर हो सकती है यथा कीर्ति या शक्ति। यद्यपि स्पृहणीय वस्तुएं असंख्य हो सकती हैं परन्तु सच्चा लक्ष्य एक ही रहता है- आनन्द निरपवाद रूप से प्रत्येक व्यक्ति ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। यहां तक कि बड़े से बड़े कूटनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, व्यापार-विशारद एवं कलाकार भी वस्तुतः अपने विभिन्न क्रियाकलापों द्वारा आनन्द की ही खोज में लगे हैं, भले ही वे पूछे जाने पर इस सत्य को स्वीकार न करें। इच्छाओं की पूर्ति होने पर हमें जो विभिन्न प्रकार का संतोष प्राप्त होता है वह भी आनन्द प्राप्ति का साधन ही है। परन्तु यह आनन्द क्षणिक एवं आंशिक है। हमें जिस वस्तु की खोज है वह है विशुद्ध एवं स्थाई आनन्द।

ऐसा क्यों होता है कि यद्यपि हम आनन्द की खोज में सतत् प्रयत्नशील रहते हैं फिर भी वह हमें चकमा दे जाता है। क्योंकि हम गलत दिशा की ओर बढ़ते हैं। एक यात्री हरिद्वार से बद्रीनाथ को जाना चाहता है। यदि वह दक्षिण दिशा की ओर अग्रसर होता जावे तो क्या कभी वह अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच सकेगा? वह अपनी यात्रा में ज्यों-ज्यों अग्रसर होता जावेगा त्यों-त्यों वह अपने गन्तव्य स्थान से दूर हटता जावेगा। ज्यों ही उसे अपनी गल्ती महसूस होगी, वह

पीछे लौटेगा और उत्तर दिशा की ओर अग्रसर होगा त्यों ही वह अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ना आरम्भ करेगा। हमें जिस सुख की आकाँक्षा है वह हमारे भीतर ही है। हमारे भीतर की आनन्द के उस झरने का उद्‌गम है जिसकी एक बूंद भी हमें सदैव के लिए पूर्णरूपेण मतवाला बनाने के लिए एवं हमारे दुःखों व कष्टों को पूर्णतया मिटाने में समर्थ है। परन्तु यह हमारी मूर्खता है कि हम ऐसा विश्वास करते हैं कि सुख कहीं बाहर स्थित है और वह हमें पत्नी, पुत्र, धन-सम्पत्ति, नाम और कीर्ति के द्वारा प्राप्त हो सकता है और इसके फलस्वरूप हम इन बाहरी उपकरणों को प्राप्त करने में अपने जीवन का एक बहुत बड़ा भाग खर्च कर देते हैं। हमारी दशा उस हिरन की सी है जो अपनी प्यास बुझाने के लिए मृगतृष्णा की ओर भागता ही जाता है एवं अन्त में जल प्राप्त किये बिना ही अपना प्राण त्याग देता है। हम सुख की खोज में अपना जीवन बिताते हैं और यही पाते हैं कि जीवन प्रायः कष्टों एवं दुखों से परिपूर्ण है। यहां तक कि क्षणिक सुखों का अन्त भी दुःख में ही होता है।

दूसरा अध्याय

दुःख के कारण--अविद्या और माया

यदि हमें किसी रोग के कारण ज्ञात हो जावें तो उसका उपचार सुगमता से किया जा सकता है। ठीक-ठीक निदान के बिना किसी रोग का उपचार सदैव के लिए किया जाना सम्भव नहीं, भले ही हम क्षणिक आराम पहुंचाने वाली कुछ औषधियों से उस रोग को स्वल्प काल के लिए दबा दें। अतः सर्वप्रथम विश्वव्यापी कष्ट के कारण का पता लगाओ तभी तुम सदा के लिए उस रोग को ठीक कर सकते हो। कष्ट का मूल कारण यह है कि हमने असत्य वस्तुओं को सत्य मान लिया है। इन असत्य एवं भ्रामक वस्तुओं का परित्याग कर दो और सत्य का-श्री भगवान् का ही आश्रय लो और तभी तुम्हारे कष्टों का अन्त होगा। जब तक हम इन असत्य छायाओं को पकड़े रहेंगे तब तक हमें अवश्यमेव कष्ट भोगना और रोना पड़ेगा। हमारे कष्टों का पूर्णरूपेण अन्त करने के लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है। क्षणिक आराम पहुंचाने वाली औषधियों के द्वारा इस मूल महारोग को हटाने के प्रयत्न में इधर-उधर दौड़ने में कोई लाभ नहीं है।

हम इन असत्य छायाओं से क्यों चिपके हैं और हम उनके पीछे स्थित सत्य को पाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते? अविद्या या अज्ञान के कारण। 'वेत्ति' का अर्थ है जानना और यह 'विद' मूल सत्य को जानने का है। सत्य को न जानना ही अविद्या है। और सत्य क्या है? वह जो सदैव बना रहे और बिना किसी परिवर्तन या हेरफेर के एक ही रूप में रहे। संपूर्ण दृश्य एवं अदृश्य जगत प्रतिक्षण परिवर्तित हो

रहा है। क्या वह सत्य हो सकता है? इस लिए जो कुछ तुम देख सकते हो वह सत्य नहीं है। परन्तु फिर भी हम इन सब को सत्य मान रहे हैं। हम अपने इस स्थूल शरीर को भी सत्य मानते हैं भले ही वह दूसरे क्षण नष्ट हो जाये। हम उसे अपना मानते हैं भले ही हमें किसी भी क्षण उसका परित्याग करना पड़े। हम सदैव अस्थाई एवं असत्य को ही सत्य मानते हैं इसलिये हमें दुःख भोगना ही पड़ेगा। हम बहुत बड़े बुद्धिमान हो सकते हैं और असत्य संसार के विषय में अनेकों बातों का ज्ञान रखते हों परन्तु वास्तव में हम मूर्ख हैं। जो बुद्धिमान हैं और सत्य का ज्ञान रखते हैं वे छायाओं से परिपूर्ण इस अस्थाई संसार की किसी भी वस्तु को सत्य नहीं मानते। किसी भी वस्तु के प्रति यहां तक कि शरीर के प्रति भी जो उनके इतने समीप दिखाई देता है और उनका अपना जान पड़ता है, वे ममत्व की भावना नहीं रखते। यह बुद्धि उनको दुःखों से मुक्ति देती है।

अतः जो भी कष्टों से मुक्त होना चाहता है उसे मिथ्या एवं असत्य वस्तुओं का परित्याग करना ही पड़ेगा। सम्पत्ति, कीर्ति, पत्नी आदि संबंधित सभी इच्छाएँ भ्रामक हैं एवं अवश्यमेव त्याज्य है एवं इन वस्तुओं के प्रति हमें अपना दृष्टिकोण पूर्णरूपेण बदलना चाहिए। हमें सदैव एक रस रहनेवाले 'सत्' को ही स्वीकारने का प्रयत्न करना चाहिए। हमें अज्ञानान्धकार को दूर करने एवं सत्य के प्रकाश को प्राप्त करने के लिए अवश्यमेव प्रयत्नशील होना चाहिए। सत्य के प्रकाश में हम देखेंगे कि हम न शरीर हैं, न मन हैं और न बुद्धि। हम तत्वमसि' इस महावाक्य की सत्यता का अनुभव करेंगे। अतः तुम स्वयं जानने का प्रयत्न करो। तुम वही आत्मा हो जो शोक चिन्ताओं एवं कष्टों के परे है।

हम अविद्या के अन्धकार में क्यों पड़ गये ? यदि हम किसी गड्ढे में पड़ जाते हैं तो हम यह नहीं जानना चाहते कि हम क्यों गिरे? तत्काल ही हमारा लक्ष्य हो जाता है कि हम येन केन प्रकारेण बाहर निकलें परन्तु जब हम इस अविद्यान्धकार से बाहर आ जाते हैं तब हम यह अनुभव करते हैं कि हम अब तक भ्रम में ही पड़े थे। हम जिन कष्टों को भोग रहे थे वे केवल मानसिक एवं वैयक्तिक हैं एवं वास्तविक ज्ञान के अभाव के कारण है। यह सब उस भ्रम के कारण हैं जिसे हिन्दू दर्शनशास्त्रों में 'माया' नाम दिया गया है।

माया क्या है? इसका अर्थ है- वह जिसका अस्तित्व नहीं है। जिसे हम अपने चारों ओर देखते हैं- इस जगत् या संसार का सच्चा अस्तित्व नहीं है। हम एक काल्पनिक संसार में निवास करते हैं और माया पति जैसी कल्पना करते हैं वैसी ही भावना अपने मन में उत्पन्न करते हैं। जिस प्रकार एक सम्मोहन विद्या जाननेवाला एक **(Hypnotist)** तालाब उत्पन्न कर सकता है जिसमें सम्मोहित व्यक्ति नहा सकते हैं जबकि वस्तुतः वहां असंमोहित व्यक्तियों के लिए कोई तालाब नहीं रहता। स्वप्नावस्था में न मोटरें होती हैं न वायुयान परन्तु फिर भी तुम उन पर चढ़ते हो। इससे यह बात तुम्हारी समझ में आ सकती है कि किस प्रकार हम किसी स्थान पर किसी वस्तु के वास्तविक रूप में अभाव होते हुए भी उसे देख सकते हैं। यह दर्शाता है कि वस्तुओं के न रहने पर भी उनका दर्शन हो सकता है। अतः जो कुछ भी यहां देखा जाता है उसका तत्वतः कोई अस्तित्व नहीं है। उसका वाह्य रूप से केवल आभास होता है, वह वस्तुतः सत्य नहीं है। सम्पूर्ण संसार इसी प्रकार का है। जब एक

साधारण बाजीगर (सम्मोहक) इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न कर सकता है तो फिर विश्व-नियन्ता क्यों नहीं कर सकता। हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने आप को सम्मोहन से मुक्त करें और उस श्री भगवान जी के दर्शन करें जो भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। जब हम माया के परे हो जाते हैं तब हमारे लिए संसार नहीं रह जाता। हमने उस परदे को ही नष्ट कर दिया है जिस पर भ्रामक छायायें पड़ती हैं।

माया न केवल भ्रामक है अपितु वह उत्तेजक भी है। वह अविकसित जीवन को ऐसे वातावरण में रखती है जिसमें वह क्रमशः अपना विकास कर सके जो आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक है। यद्यपि सम्पूर्ण बाधाएँ, प्रलोभन, अग्नि परीक्षाएँ और आपत्तियां व्यक्तिगत हैं तथापि वे जीवन में छिपे हुए गुणों को और उसकी योग्यताओं को प्रकट करते हैं। माया की गोद में ही उसके बच्चों का विकास हो सकता है जब तक कि वे सशक्त और उसके परदे को भेदने में और उसकी वास्तविकता को जानने में समर्थ न हो जाएं।

हमें यह सोचने की भूल नहीं करनी चाहिए कि माया का भ्रम सामान्य भ्रम है जो आसानी से हटाया जा सकता है। समाधि की उच्चतम अवस्था में ही संसार नहीं रहता और भ्रम की तरह दिखाई देता है। सामान्य मनुष्य के लिए संसार सत्य है और उसे उसके नियमों के अनुसार चलना पड़ेगा, उसे अपने आपको इस महा मोह से मुक्त करने के लिए उचित उपायों का अवलंबन करना पड़ेगा और दृढ़ता व लगन के साथ अपने लक्ष्य का अनुसरण करना होगा। सत्य की उपलब्धि करने और अपने वास्तविक रूप को जानने के उपरान्त ही उसे ज्ञात होगा कि उसके बन्धन केवल उसके मन की रचना थी।

तृतीय अध्याय

परमात्मा या आत्मा-हमारे अनुसंधान का लक्ष्य

आत्मा क्या है? आत्मा का अर्थ है "वह जो सर्वव्यापी है।" यह वह सत्य है जो शरीर, मन और बुद्धि के परे है। यह निकटतम से निकट और दूरतम से दूर है। यह सम्पूर्ण तत्वों का प्रेरक है। यह नेत्रों का नेत्र, और कर्णो का कर्ण है। यह शरीर के सम्पूर्ण अंगों को जीवन और प्रकाश देता है। जो कुछ हम भीतर या बाहर देखते हैं- आत्मा के द्वारा ही देखते हैं। स्वप्नावस्था में हम आत्मा के सहारे ही स्वप्न देखते हैं। यह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में परिवर्तन रहित रहता है। ये तीनों अवस्थाएं जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरों पर आश्रित रहती हैं- आत्मा के ही विभिन्न रूप हैं। इस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तुम्हें अपनी चेतना में ही गहरी-गहरी डुबकी लगानी होगी। आत्मा को जानने के लिए तुमको आत्मा बनना पड़ेगा। इस प्रकाश की ओर तुम जितना ही अग्रसर होगे उतना ही अधिक तुम स्वयं ही उस प्रकाश में परिवर्तित होते जाओगे। देखो आरुणि उद्दालक के प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य 'आत्मा' के विषय में क्या कहते है :-

"अदृष्टो दृष्टाऽश्रुतः श्रोता ऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्यतो ऽस्ति विज्ञातैष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।।

यह आधारभूत सत्य ब्रह्म कहलाता है। इस व्यक्त विश्व की उत्पत्ति उससे ही हुई है और यह 'उस' पर ही आश्रित है। वह सत्यं, ज्ञानं अनन्तम् है- शाश्वत् सत्य, शाश्वत् ज्ञान एवं शाश्वत् आनन्द है। इन शब्दों के भीतर जो भावनाएं छिपी हुई हैं वे बड़ी ही सूक्ष्म हैं एवं मनुष्य का मन जब उन भावनाओं को समझने का प्रयास करता है तब वह चकित होकर लौट आता है। जो अज्ञान और सांसारिक जीवन में गहराई तक डूबे हुए हैं वे परम सत्य का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। उनको परम सत्य तक क्रमशः ही ले जाना होगा। अतः गुरु अपने शिष्यों को साकार उपासना के द्वारा शिक्षा देने का प्रयत्न करता है। वह अपने शिष्य को पूजा के लिए कोई रूप प्रदान करता है। वह आकर्षक वस्तुओं से सांसारिक जीवों को आकृष्ट करने की चेष्टा करता है। यदि तुम किसी बच्चे को दवा देना चाहते हो तो उसे कुछ मीठी चीजों के द्वारा आकृष्ट करते हो। इसी प्रकार लोगों को धर्म की ओर आकर्षित करने के लिए तुम्हें उनको कुछ आकर्षक चीजें देनी ही होंगी। जो भी व्यक्ति कोई सुन्दर रूप देखता है वह स्वभावतः ही उस ओर आकृष्ट हो जाता है।

वह रूप या तो किसी देवता का हो सकता है जैसे विष्णु, दुर्गा आदि जो ईश्वर के किसी एक रूप को व्यक्त करते हैं अथवा वह रूप राम, कृष्ण आदि किसी अवतार का हो सकता है। किसी अवतार को पूजा के लिए इष्ट मानने में यह लाभ होता है कि उपासक भागवत या रामायण में भगवान की लीलाओं का वर्णन पढ़ सकता है और इस प्रकार उस परमात्मा के प्रति बड़ी सुगमता से भक्ति का

विकास कर सकता है अध्यात्म जीवन के अगोचर तत्वों को समझना बड़ा ही कष्ट-साध्य है। परन्तु जब वे ही सत्य कथाओं के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं तब वे न केवल परमात्मा के प्रति भक्ति उत्पन्न करते हैं अपितु वे शिष्य को बड़ी आसानी से समझ में आ जाते हैं। इस दृष्टिकोण से भागवत् में वर्णित कृष्ण लीलाएं अद्भुत हैं। नटखट कृष्ण गोपियों के दूध और दही को गिरा देते हैं, जो उन गोपियों की सम्पत्ति है। क्या यह उन लोगों के लिए एक शिक्षा नहीं है जो धन और सब प्रकार की वस्तुओं का संग्रह कर रहे हैं। भगवान् एक दिन उनकी सभी चीजों को बिखेर देंगे और वे उनको गरीबों में बांट देंगे ताकि भौतिक संसार की वस्तुओं के प्रति हमारी आसक्ति नष्ट हो जाए। यशोदा कृष्ण को बांधना चाहती है परन्तु उसे सफलता नहीं मिलती। परन्तु जब वह पूर्णतया थक जाती है जब अपना प्रयत्न छोड़ देती है और तब वे स्वयं अपने आपको बंध जाने के लिए प्रस्तुत कर देते हैं हम उनको पाने का प्रयत्न बार-बार करते हैं परन्तु वे हमें छलते ही जाते हैं। तब हम आत्मसमर्पण करते हैं और तब अहो ! वे अपने आपको हमारे प्रति प्रकट करते हैं। चीर हरण लीला भी इसी प्रकार शिक्षा देती है। उन्हें पाने के लिए हमें उनके पास नग्न होकर ही जाना होगा। पूर्ण प्रेम में भय, लज्जा अथवा लेन-देन नहीं होता।

इसी प्रकार रामायण में वर्णित भगवान् की कथा भी हमें प्रतिपग पर गम्भीर शिक्षाएं देती हैं। और हमें पवित्र करने वाली तथा आनन्द की स्थिति तक ऊपर उठाने वाली भक्ति के तीव्र उद्रेक की अनुभूति प्राप्त किये बिना किसी भी व्यक्ति के लिए श्री तुलसीदास जी के द्वारा वर्णित उनके जीवनचरित को पढ़ना असम्भव है।

भागवत और रामायण केवल जीवन-चरित की कथाएं मात्र नहीं है परन्तु वे आध्यात्मिक सत्य एवं बुद्धि के भंडार हैं- यह बात मूल भागवत में दिये गए गम्भीर दार्शनिक सत्यों से प्रकट होती है, जिनका उपदेश नारायण के द्वारा ब्रह्मा को मूल भागवत के प्रारम्भ में दिये गये चार श्लोकों में दिया गया है।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत्सदसत् परम।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ।।१।।
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ।।२।।
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ।।३।।
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ।।४।।

सम्पूर्ण भागवत उपनिषदों की व्याख्या है और इसमें श्रेष्ठतम आध्यात्मिक सत्यों को कृष्ण चरित के साथ गूंथ दिया गया है। इसका सबसे महत्वपूर्ण सत्य यही है कि भगवान् केवल प्रेम-भक्ति से अनन्यभक्ति से, भगवान् के प्रति पूर्ण तथा आत्म-समर्पण से ही बांधे जा सकते हैं। शत प्रतिशत मन उस ईश्वर के श्रीचरणों में लग जाना चाहिए जो वास्तव में तुम्हारी आत्मा ही हैं। क्यों तुम अपना समय मिथ्या छायाओं के प्रति दौड़ने में नष्ट करते हो जो चारों ओर से तुमको घेरी हुई हैं। तुम अपनी सारी शक्ति सच्चिदानन्द स्वरूप कृष्ण के पीछे दौड़ने में ही खर्च क्यों नहीं करते? तुम अपना सम्पूर्ण शक्ति गोपियों की तरह उनके चरणकमलों में क्यों नहीं उडेल देते? इस विषय में

गोपियां हमारी श्रेष्ठ गुरु हैं। गोपी का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण। जब उन्होंने कृष्ण की वंशी सुनी तो क्या हुआ? उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया और वे उसके पास चली गई। अभी भी उनके द्वारा वंशी बजाई जा रही है। परन्तु केवल गोपियां ही उसे सुन सकती हैं। जब वे उसे सुनती हैं तब वे सब कुछ छोड़ कर कृष्ण के पीछे दौड़ पड़ती हैं।

हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि भगवान् उनको आध्यात्मिकता प्रदान करते हैं जो उनके पास सच्चे हृदय से आते हैं। परन्तु वे केवल प्रेम के द्वारा ही आकर्षित होते हैं, वे केवल प्रेम से बंधते हैं अन्य किसी चीज से नहीं। और तुम उन्हें प्यार क्यों नहीं कर सकते? वास्तविकता यह है कि तुम उन्हें नहीं जानते हो। तुम नहीं जानते कि वे तुमको सब चीजें दे रहे हैं, वे तुमको वे सब चीजें दे सकते हैं जो तुम चाहते हो। अतः तुम उस गुरु का पता लगाओ जो भगवान् को जानता है, जिसने दिव्य-प्रेम की मदिरा छककर पी ली है। वह तुमको भगवान् को प्रेम करने और फिर भगवान् को जानने की शिक्षा देगा।

चौथा अध्याय

मन

यह कौन सी वस्तु है जिसे हम 'मन' कहते है? हमें 'मन' को जानना ही होगा क्योंकि विश्व के सम्पूर्ण दुःखों का कारण मन ही है। यह चंचल है, स्थिर नहीं। हम किस प्रकार उसे वश में कर सकते हैं? यह सदैव बाह्य जगत् में विषयों की ओर दौड़ रहा है। हम किस प्रकार उसे अनासक्त बना सकते हैं? हमारे ऋषियों ने मन के गम्भीरतम स्तरों में गहरा गोता लगाकर मन के रहस्यों का उद्‌घाटन करने की चेष्टा की। उन्होंने पिण्डाण्ड का अध्ययन किया और पिण्डाण्ड के स्वभाव को जानकर उसके सहारे उन्होने ब्रह्माण्ड के स्वभाव को जान लिया, क्योंकि पिण्डाण्ड ब्रह्माण्ड का केवल एक छोटा प्रतिरुप ही है।

पिण्डाण्ड के अध्ययन के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि स्थूल शरीर में छिपे हुए कई कोष हैं, जो अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश कहलाते हैं, जो उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर हैं। कोश आत्मा को उसी प्रकार ढके हुए और गुप्त रखते हैं जिस प्रकार कपड़े मनुष्य शरीर को ढके रहते हैं। जिस प्रकार शरीर को देखने के लिए ओवरकोट, कोट, कमीज तथा अन्डरवीयर (अधोवस्त्र) को अलग करना ही होगा उसी प्रकार आत्मा का दर्शन करने के लिए आत्मा के कोशों को एक के बाद एक अलग करना ही होगा। इन कोशों को अलग करने का अर्थ है अपनी चेतना को क्रमशः गंभीरतर

स्तरों में ले जाना। अतः मन के हल्के स्तरों से मन को ऊपर उठाने के लिए हमें मनोमय कोश से हटाकर विज्ञानमय कोश में ऊपर उठना ही होगा, जो ऐसा शरीर है जिससे बुद्धि प्रकाशित होती है। भगवान् ने हमें बुद्धि दी है और इस शक्ति का उपयोग हमें विज्ञानमय कोश के सहारे करना ही चाहिए एवं जीवन को उस दृष्टिकोण से देखना चाहिए। तुम किसी एक खास शरीर को 'मेरा' पुत्र कहते हो। परन्तु उसका 'तुम्हारा' पुत्र होना केवल तुम्हारी कल्पना है। कौन तुम्हारा पुत्र है तब यदि शरीर की मृत्यु हो जाय तो तुम उसका स्पर्श भी नहीं करोगे। अतः अपनी बुद्धि का उपयोग करो। सत्य का ज्ञान प्राप्त करना और सत्य का दर्शन करना ही सुखी होने का एक मात्र मार्ग है। स्वप्नावस्था में हम किसी व्याघ्र को आते हुए देखते हैं एवं भयभीत हो जाते हैं। वास्तव में कोई व्याघ्र नहीं है परन्तु हम अपने ऊपर इस दुःख का आरोप कर लेते हैं। जिन दुखों को हम भोगते हैं उनके कारण हम स्वयं ही हैं। हमने अपना संसार बसाया है और जब तक हम उसे नष्ट नहीं कर देते तब तक सुखी नहीं हो सकते। सम्पूर्ण बाह्य विश्व भले ही लुप्त हो जाय परन्तु जब तक हम अपने द्वारा निर्मित मानसिक संसार का नाश नहीं कर देते तब तक हमें मुक्ति नहीं मिल सकती। विश्व की उच्चतम भूमिका से देखे जाने पर मन कोई वस्तु नहीं, केवल आत्मा का ही अस्तित्व है। जब तुम मन के ऊपर आनन्दमय कोष में उठते हो तो केवल आनन्द-आनन्द एवं आनन्द ही रह जाता है। अतः आनन्द के उस भंडार तक उठने की चेष्टा करो। यदि तुम पर्वत के शिखर पर जाते हो तो तुम नीचे घाटी में स्थित घरों इत्यादि को नहीं देखते

हो। तुम केवल एक समान दृश्यों की लम्बी पंक्ति देखते हो। ये सब वास्तविक चीजें हैं, काल्पनिक नहीं। परन्तु हम सब के लिए यह संसार स्वर्ग से भी बढ़कर है, अतः आनन्द के उद्गम स्थान की खोज करने की हमें क्या आवश्यकता है?

हम सदैव सम्पत्ति, नाम और कीर्ति के पीछे दौड़ रहे हैं जो केवल माया के राज्य की वस्तुएं है। यही कारण है कि हमें बार-बार दुःख भोगना और रोना पड़ता है। हम सदैव सतत् परिवर्तनशील विश्व को पकड़ने और पकड़े रहने के प्रयत्न में संलग्न हैं। तब हम शाश्वत आनन्द की प्राप्ति किस प्रकार कर सकते हैं? अतः बुद्धिमान व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि का उपयोग करे और उस सतत् परिवर्तनशील संसार के ऊपर उठे। मन स्थूल है, जड़ है। इसका आधार चैतन्य आत्मा है। यदि हम मन को पवित्र कर लें और उसे मानों पारदर्शी बना लें, तो उसके द्वारा केवल आत्मा ही प्रकाशित होती है। अतः प्रत्येक को बार-बार विचार करना चाहिए। विचार आवश्यक है। सत् क्या है? असत् क्या है? यह विचार है। जो अपने विचार और विवेक का उपयोग नहीं करता वह जीवित होते हुए भी सचमुच मृत है। यदि हम बुद्धिपूर्वक अपने विचार का उपयोग करें तो जीवन की समस्या सरलतापूर्वक हल हो जाती है। यदि कोई विद्यार्थी किसी प्रश्न पर अपना मन नहीं लगाता तो वह प्रश्न कभी हल नहीं हो सकता। मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ? कौन मेरा पुत्र है? यदि तुम इन प्रश्नों पर हमेशा सच्चाई से विचार करोगे तो इनकी तह में छिपे हुए सत्य का दर्शन करने लगोगे। अतः इस सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। इन प्रश्नों को हल करने का कार्य मत टालो।

मन को किस प्रकार शुद्ध किया जाय? जब तुम किसी चीज को विष समझते हो तो तुम उसका स्पर्श नहीं करते। परन्तु बाहरी दुनियां की चीजें हमें अल्पकाल के लिए थोड़ा सा सुख प्रदान करती हैं और यही कारण है कि हम उनसे चिपके रहते हैं। परन्तु इन क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिए हमें कीमत के रूप में सबसे बड़े आनन्द आत्मानन्द को ही दे देना पड़ता है। जिसका अनुभव हम बाहरी पदार्थो के सम्पर्क में आने पर करते हैं। उस क्षणिक सुख या मानसिक सुख का उद्गम कहां से है? यह अनुभव करना आवश्यक है कि यह अस्थायी सुख और आनन्द जिसका अनुभव हम वाह्य संसार के सम्पर्क में आने पर करते हैं उस आत्मा से ही प्राप्त होता है जो सच्चिदानन्द स्वरूप ही है। ऐसी स्थिति में क्या होता है कि जब किसी इच्छा की पूर्ति होती है। तब उस संतुष्टि से क्षण भर के लिए शान्ति और मन की समरसता उत्पन्न होती है और उस अल्प मध्यान्तर में आत्मा के आनन्द को मन में बहने का अवसर प्राप्त होता है। परन्तु स्वभावतः ही यह सुख या आनन्द अस्थायी है और कभी-कभी तो कपूर की तरह उड़ने वाला भी होता है क्योंकि इच्छा फिर से मन को चंचल और अशांत बना देती है। जब मन स्थाई रूप से और पूर्ण रूप से शान्त और समरस बन जाता है तभी आत्मा से सच्चे आनन्द की किरणें फूट निकलती हैं एवं शाश्वत शांति प्रदान करती हैं। इसीलिए हम प्रत्येक प्रार्थना के अन्त में "शान्तिः शान्तिः शान्तिः" कहा करते हैं। शान्तिः अथवा मन की शान्त अवस्था शाश्वत आनन्द एवं बुद्धि के परे रहने वाली शान्ति को प्राप्त करने का सबसे श्रेष्ठ साधन है। वास्तव में यही एकमात्र साधन है.

और साधना में काम आने वाले अन्य साधन इसके अधीनस्थ रहकर इस मुख्य लक्ष्य की सहायता करते हैं।

यदि तुमको सब सुखों के उद्‌गम स्थान का पता चल जाय तो बाह्य जगत् की वस्तुओं की चंचल छायाओं को पकड़ने का प्रयत्न करने के बदले तुम सीधे उस उद्‌गम स्थान पर पहुँच जाओगे। यदि मुझे १००० किसी अज्ञात स्थान से प्राप्त करना है तो मैं द्रव्य की प्राप्ति के लिए इधर-उधर दौड़ता फिरूंगा। परन्तु यदि उस स्थान का पता लग जाए जहां से मुझे द्रव्य मिल सकता है तो मैं सीधे उस प्राप्ति स्थान तक पहुंच जाऊंगा। आनन्द हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। हम आनन्द स्वरूप ही है। हमें केवल यह जानना है कि उस आनन्द को हम कैसे प्राप्त करें? यदि आकाश में चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा हो तो स्वच्छ और स्थिर जल के किसी भी सतह पर उसका सच्चा प्रतिबिम्ब पड़ेगा। हमारा मन एक जलपूर्ण पात्र की तरह है। यदि जल की लहरें शांत हो जायं तो टूटे-फूटे प्रतिबिम्ब के स्थान पर चन्द्रमा का स्वच्छ प्रतिबिम्ब हमें प्राप्त होगा। यदि मन को स्थायी रूप से शान्त और स्थिर कर दिया जाए तो आनन्द स्वरूप आत्मा का स्वच्छ और स्थायी प्रतिबिम्ब प्राप्त होगा। यही उस शाश्वत एवं अविनाशी आनन्द को प्राप्त करने का रहस्य है।

अतः हम देखते हैं कि यह इच्छा या काम ही है जो हमारे शाश्वत् आनन्द को प्राप्त करने में बाधक है। इसके साधन सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए हैं:- यह नेत्रों के सहारे कार्य करता है जो सुन्दर चीजें देखना चाहता है। यह कानों के द्वारा कार्य करता है जो मनोहर ध्वनि सुनना चाहते हैं-

इत्यादि। इस काम को किस प्रकार समाप्त किया जाए? इसका उत्तर गीता के तृतीय अध्याय में दिया गया है। भगवान् कहते हैं कि काम को विचार के द्वारा सरलता से नष्ट किया जा सकता है। यदि तुम्हारा मन इन्द्रियों के विषय-पदार्थों की ओर जाता है तो सर्वप्रथम इन्द्रियों को भोग-पदार्थों से अलग करो। यदि तुम किसी व्यक्ति को मारना चाहते हो तो अपने हाथ को, आगे बढ़ने और तुम्हें क्रोधित करने वाले व्यक्ति को मारने से रोको। इन्द्रियां मन से कार्य करती हैं अतः अगला कदम यह होगा कि मन को इन्द्रियों से अलग कर दो। मन के परे बुद्धि है जिसे मन से अलग करना ही होगा। इनमें से प्रत्येक कार्य और विचार की श्रृंखला की एक-एक कड़ी है और प्रत्येक दूसरी से अलग की जा सकती. है जब तक कि हम इन सबके आधारभूत आत्मा तक न पहुंच जायं। इस प्रकार हम क्रमशः बढ़ते हुये विवेकपूर्वक विश्लेषण करते हुए काम को जीत सकते हैं और शाश्वत् आनन्द के उद्‌गम का पता लगा सकते हैं।

जब हम लक्ष्य की ओर यात्रा करते हैं तो हम एक के बाद एक चीजें पीछे छोड़ते जाते हैं। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों भगवान् को पाने के लिये अपनी चेतना में अधिकाधिक गहरी डुबकी लगाते हैं त्यों-त्यों हम एक-एक तत्व पीछे छोड़ते जाते हैं और मन इनमें से एक हैं। यह हमें अपनी सीमा तक ले जाता है और तब रुक जाता है। वास्तव में मन जड़ है और जब हम चेतना के अधिकाधिक गम्भीर स्तरों में डुबकी लगाते हैं तो हमें मन आगे नहीं बढ़ाता है परन्तु मन की आधारभूत चेतना ही हमें आगे बढ़ाती है। यही कारण है कि जब हम मन की सीमा को पार कर जाते हैं तब मन छूट

जाता है और चेतना का आधार ही आगे बचा रहता है। मन के परे रहने वाली चेतना का अंश ही सारा भार अपने ऊपर ले लेता है।

'मन' शब्द का उपयोग उसके सामान्य सीमित अर्थ में ही किया गया है। विस्तृत अर्थ में आत्मा के क्षेत्र के नीचे निवास करने वाली चेतना का सारा खेल मन के राज्य में ही आता है। अतः हमें सत्य को मन के द्वारा जानना पड़ेगा। समाधि में भी मन रहता है परन्तु वह ब्रह्म के साथ तदाकार हो जाता है। वह पारदर्शी कांच की तरह हो जाता है जिसमें से प्रकाश बिना किसी बाधा के निकलता रहता है। इसलिए पवित्रता सबसे आवश्यक वस्तु है। यदि मन स्थूल हो तो वह आत्मा के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करने का अथवा भेजने का कार्य नहीं कर सकता। आत्मा सूक्ष्मतम वस्तु से भी अधिक सूक्ष्म है। अतः मन को भी संवेदनशील होना चाहिए। भगवत्गीता के १६ वें अध्याय में वर्णित दैवी गुणों का विकास करने से वह मन पवित्र और संवेदनशील बनता है।

अध्याय पांचवा
विभिन्न मार्ग

आत्मा तक पहुंचने के लिए विभिन्न मार्ग है यथा कर्म का मार्ग, ज्ञान का मार्ग और भक्ति का मार्ग। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं, तदनुसार उनके मार्ग भी भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि साधक अन्य सब छोड़कर केवल एक ही मार्ग का पथिक बन जावे और दूसरे मार्गो से कोई प्रयोजन न रखे। साधना में कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय होना ही चाहिए यद्यपि व्यक्तिगत स्वाभावानुसार इनमें से किसी एक का प्राधान्य होगा। साधक की उन्नति के लिए इनमें से प्रत्येक अलग अलग ढंग से महत्वपूर्ण है। कर्मयोग मलिन संस्कारों को शुद्ध करता है, शक्ति प्रदान करता है और साधक को निष्काम भाव से कार्य करना सिखाता है। भक्ति योग प्रेम का विकास करता है और जीव में भगवान् को खोजने की इच्छा को तीव्रतम कर देता है। ज्ञान योग सत् और असत् के विचार द्वारा माया के परदों को छिन्न-भिन्न करने में उसे समर्थ बनाता है। हम देखें कि इन विभिन्न मार्गो के मुख्य सिद्धान्त कौन-कौन से हैं ?

कर्म मार्ग:-

कर्म मार्ग-कर्म योग का प्रशिक्षण अपने सामान्य कर्त्तव्यों को ठीक-ठीक और पूर्ण मनोयोग पूर्वक करने से प्रारम्भ होता है। जो विद्यार्थी परीक्षा भवन में अच्छी तैयारी करके जाता है वह शान्त और प्रसन्न रहता है जबकि दूसरा

विद्यार्थी जिसने उचित तैयारी नहीं की है भयभीत और व्याकुल रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपना कर्त्तव्य सावधानी से करता है उसमें आत्म-गौरव रहता है और वह किसी से नहीं डरता, जबकि अपने कर्त्तव्यों को टालने वाला व्यक्ति सदैव दुःखी और व्याकुल रहता है। शुद्ध भाव से कर्त्तव्यों को पूरा करना पूजा है। यह मनुष्य को शक्तिशाली और पवित्र बनाता है। सब छोटे-छोटे कर्त्तव्य उसे उसके महानतम कर्त्तव्य के लिए योग्य बनाने के लिए हैं और वह महानतम कर्त्तव्य है ईश्वर की खोज करना एवं सत्य का ज्ञान प्राप्त करना। परन्तु इस महान कर्त्तव्य का बीड़ा उठाने के लिए मनुष्य को शक्तिशाली और पवित्र होना ही चाहिए और उसे छोटे-छोटे कर्त्तव्यों का परित्याग कर देना चाहिए। जब मनुष्य में आवश्यक मात्रा में वैराग्य का विकास हो जाए तभी उसे संसार का परित्याग करना चाहिए। जब फल पक जाता है तब वह अपने आप गिर जाता है जब तक वह समय नहीं आ जाता तब तक उसे संसार के कार्य करते रहना चाहिए। कम से कम वह कुछ सीखता तो रहेगा। कर्म के द्वारा ही हम शक्ति प्राप्त करते हैं और कार्यों को उत्तमता के साथ पूरा करने की शक्ति प्राप्त करते हैं।

कर्म योग-का दूसरा सोपान है सभी कार्यों को निष्काम भाव से करना, जैसा कि कहा जाता है 'फल' का त्याग करना साधारण लोग कर्म करते हैं परन्तु फल की कामना करते हैं दूसरे लोग जिनमें वैराग्य अल्प है और जो फल प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा नहीं रखते वे कर्म का ही परित्याग करने की इच्छा रखते हैं। कर्म योग में पूर्णता प्राप्त करने के लिए किसी व्यक्ति को चाहिए कि वह कर्म के सब

फलों का पूर्ण त्याग करके पूर्णमनोयोग पूर्वक एवं प्रेमपूर्वक कर्म करता ही चला जावे। उस भगवान को प्रत्येक चीज अर्पण करते जाओ। प्रत्येक कार्य के बाद अपने सम्पूर्ण हृदय से कहो 'कृष्णार्पणमस्तु' और फिर उसे पूर्णतया भूल जाओ। वे जैसा चाहते हैं उसी प्रकार उन्हें कर्मफलों का उपयोग करने दो।

यह याद रखना आवश्यक है कि निष्काम कर्म अपनी पत्नी व बच्चों के लिए अथवा दूसरों के लिए कार्य करना नहीं है। केवल भगवान् के लिए किया गया कर्म ही असली यज्ञ है और वही 'निष्काम' कहला सकता है। कोई व्यक्ति उसे सब कुछ कैसे अर्पण कर सकता है? क्या केवल यह कहने से कि 'हे भगवान् ! मैं सब कुछ तुमको अर्पण करता हूं।'' अर्पण करने का कार्य पूरा हो गया? नहीं ! ईश्वर ही असली कर्ता हैं। वही हमसे सब काम कराता है। हम केवल उनके साधन हैं। मैं कुल्हाड़ी से किसी झाड़ को काटता हूं। काटने वाला कुल्हाड़ी नहीं है। यह जान लो कि प्रत्येक क्षण में और प्रत्येक कार्य में वे ही सच्चे कर्ता हैं। यही वास्तविक निष्काम है। यह सब भाव (दृष्टिकोण) की चीजें हैं।

यद्यपि भगवान् सबमें हैं और वे असली कर्ता है परन्तु वे अलिप्त हैं। कर्म उनका स्पर्श नहीं कर सकते। हम लोग ही कर्मों में 'मैं' पन जोड देते हैं और तब उसके कर्ता बन जाते हैं और इसके फलस्वरूप हमें कर्म का फल भी भोगना पड़ता है। इसलिए यदि तुम दुःख नहीं भोगना चाहते हो तो जो कुछ तुम करते हो उनमें कर्तापन का आरोप मत करो।

तुमको केवल इतना ही जानना पर्याप्त नहीं है कि वे भगवान् सभी कार्यों के वास्तविक कर्ता हैं परन्तु यह भी

जानना चाहिए कि तुम उनकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं कर सकते। जब वे ही वास्तव में सब कुछ करते हैं तब सब चीज़ों के लिए उनका आसरा क्यों न लिया जाए ? इस दृष्टिकोण से देखने से तुम्हारी कोई जबाबदारी नहीं है। तुमको किसी कार्य का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर क्यों लेना चाहिए? अतः तुम जो कुछ भी करो, उसकी जिम्मेदारी अपने ऊपर मत लो। यदि तुम किसी रेलगाड़ी को तुम्हारा सामान ले जाने देने के स्थान पर अपने सिर पर सामान रखना मूर्खता होगा।

भक्ति मार्गः-

यह कहा गया है कि भगवान में मिलने के सब रास्तों में प्रेम का मार्ग सबसे अधिक सरल और सुरक्षित है। भक्ति के बिना दूसरे मार्गों पर चलना अत्यन्त कठिन है क्योंकि मानव-स्वभाव किसी भी वस्तु में दिलचस्पी बनाये रखने के लिए 'रस' की कोई चीज चाहता है। यदि किसी विद्यार्थी को गणित के लिए कोई दिलचस्पी न हो तो उसके लिए उस विषय की परीक्षा में उत्तीर्ण होना असम्भव नहीं तो महाकठिन अवश्य है भक्ति मार्ग में आनन्द का 'तत्व' प्रारम्भ से ही रहता है, क्योंकि 'प्रेम' और आनन्द अविभाज्य हैं, और जहाँ एक चीज है वहाँ दूसरी वस्तु अवश्यमेव मौजूद रहेगी। बिना भक्ति के ज्ञान-मार्ग की साधना शुष्क बुद्धिवाद में विकृत हो सकती है और बिना भक्ति के कर्मयोग प्रेम रहित और यंत्र की तरह कर्त्तव्यों का पालनमात्र हो जावेगा। केवल प्रेम ही अपने आप में पूर्ण है और अन्य किसी भी वस्तु की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। प्रेम स्वतः पूर्ण है और यही कारण है कि भक्ति मार्ग काफी हद तक दूसरों से स्वतंत्र है और

एक सच्चा भक्त कालान्तर में ज्ञानी और योगी बन जाता है। और भक्ति क्या है? यह भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम है। जिनमें प्रेम करने का स्वाभाविक योग्यता है। वे सचमुच धन्य हैं क्योंकि उनके लिये मार्ग पर चलना बड़ा आसान है। केवल उनकी प्रेम-भावना के प्रवाह को ईश्वरोन्मुख करने की आवश्यकता है। सच कहा जाय तो प्रेम एक है अनेक नहीं। यदि हम प्रेम के स्वभाव का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि माता सम्बन्धी, पिता सम्बन्धी आदि सभी प्रकार के प्रेम वास्तव में एक ईश्वरीय प्रेम के ही विभिन्न रूप हैं। यही कारण है कि प्रेम के इन निम्न कोटि के रूपों को भक्ति में बदलना आसान है।

यदि तुम मुझसे पूछोगे कि संसार में सबसे सुन्दर वस्तु क्या है तो मैं बिना हिचकिचाहट के कहूंगा कि प्रेम ही सबसे सुन्दर वस्तु है। प्रेमी के लिए सबसे कुरूप लड़की सबसे सुन्दर बन जाती है। प्रेम प्रेमपात्र के सब दोषों को भुला देता है और यह प्रेमी को प्रेमपात्र के साथ एक रूप कर देता है। वह अन्य सब कुछ भूल जाता है और केवल प्रेमपात्र में ही खो जाता है। सर्वत्र वह उसे ही देखता है और वह केवल उसे देखती है। यह मानव प्रेम का स्वभाव ही है जो ईश्वरीय प्रेम की केवल छाया है। अतः तुम कुछ कल्पना कर सकते हो कि ईश्वरीय प्रेम किस प्रकार का होगा और वह भक्त की चेतना को किस आनन्द और उच्चतम भूमिका तक ले जावेगा। एक बार जब यह दिव्य-प्रेम हमारे हृदय में उत्पन्न हो गया तो फिर वहां घृणा अथवा ईर्ष्या के लिए स्थान ही नहीं रहेगा। निम्न लोकों की भौतिक वस्तुओं के लिए हमारा भटकना सदैव के लिए समाप्त हो जावेगा।

क्योंकि इस दिव्य-प्रेम के द्वारा हम आनन्द के उद्‌गम-आत्मा के अधिकाधिक निकट आते हैं और फिर हमें भौतिक वस्तुओं की क्या आवश्कता हो सकती है, चाहे वे सांसारिक लोगों की नजरों में कितनी भी अधिक आकर्षक क्यों न हों? वहाँ किसी प्रकार की इच्छा, क्रोध, लोभ, अभिमान और भ्रम नहीं रह सकते। मन प्रेम और केवल प्रेम से ही परिपूरित हो जाता है। अन्य किसी भी वस्तु के लिए स्थान नहीं रह जाता। जो कमरा प्रकाश से परिपूर्ण हो वहाँ अन्धकार किस प्रकार झाँक सकता है? सम्पूर्ण भेद भावनायें क्रमशः नष्ट हो जाती है। कृष्ण के दृढ़ आलिंगन में राधा हैं। सम्पूर्ण देह भावना नष्ट हो जाती है। न राधा रह जाती है न कृष्ण। केवल आनन्द ही आनन्द रह जाता है। एकमेवाद्वितीयम्। यह सच्चिदानन्द ही अवस्था है जिसकी ओर भक्त भक्ति मार्ग का अनुसरण करता हुआ आराम से धीरे-धीरे पर दृढ़तापूर्वक आगे आकृष्ट होता जाता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रेम के जिन भिन्न-भिन्न रूपों का अनुभव हम अपने सामान्य जीवन में करते हैं वे वस्तुतः एक ही प्रेम से निःसृत है जो दिव्य हैं। परन्तु जब तक हमारा प्रेम विभिन्न पदार्थों में बँटा हुआ है तब तक वह प्रेम के अधीश्वर के चरणों तक नहीं पहुंच सकता। जल का समूह चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो समुद्र तक कदापि नहीं पहुंच सकता, यदि हम उसे हजारों छोटी-छोटी विभिन्न दिशाओं में बिखरी हुई नहरों के द्वारा ले जावें। सभी छोटे-छोटे प्रवाहों को मिलाकर एक विशाल प्रवाह बनाना होगा ताकि वे अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच सकें। इसी प्रकार यदि हम अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हों तो

हमें हमारे सभी बिखरे हुए प्रेमों को मिलाकर प्रेम और भक्ति का एक ही प्रवाह अवश्यमेव बनाना ही होगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि बाह्य संसार में जिन सभी वस्तुओं को हम प्यार करते हैं उन सब पदार्थों से अपना प्रेम हटा लें। आवश्यकता इस बात की है कि हम उन पदार्थों में और उनके जरिये परमात्मा को प्रेम करने लग जाएँ। पत्नी, पुत्र और पति से केवल उनके लिए ही प्रेम न किया जाय परन्तु उनमें निवास करने वाले परमात्मा के लिए ही उनसे प्रेम किया जाय।

इस प्रकार हमारा प्रेम क्रमशः विश्वव्यापी बनता जायेगा और हमें बन्धन से मुक्त भी करता जावेगा। इस मार्ग में हमें ऐसा प्रेम करना सीखना है जो प्रेम हमारे लिए बोझ न बनें और न हमें बन्धन की ओर ही ले जाय। हमें इस विषय में अपने विवेक का उपयोग अवश्यमेव करना चाहिए। यह जानकर कि हमें अपने पुत्र, भाई, स्त्री आदि को, जिन्हें हम प्रेम करते हैं, छोड़ना पड़ेगा, हमें उनसे बुद्धिमानीपूर्वक प्रेम करना चाहिए जिसका अर्थ यह है कि हम प्रत्येक को ईश्वर के ही रूप समझकर उनसे प्रेम करें। परन्तु हम सचमुच ऐसा तभी कर सकते हैं जब हम अपने भीतर परमात्मा के दर्शन कर लें, जब हममें शरीर से अपने आपको अलग करने की शक्ति आ जावे और जब हमें अपनी आत्मा की अनुभूति होने लगे। वास्तव में कोई भी व्यक्ति पुत्र, स्त्री आदि से प्रेम नहीं करता परन्तु वह केवल अपने भीतर स्थित आत्मा से ही प्रेम करता है। जैसा कि कपिल ने देवहूति को बताया था तीन प्रकार की भक्ति है:-

(१) तामसिक - इसमें हवन आदि बातें आती हैं। घृणा और

विनाश युक्त क्रियाओं से ईश्वर को प्रसन्न करने की चेष्टा करना सबसे निम्न कोटि की तामसिक भक्ति है।

(२) राजसिक - यह व्यक्ति गत इच्छाओं एवं उसकी पूर्ति पर निर्भर करता है। इसमें मनुष्य भगवान् की पूजा भगवान् के लिए नहीं करता परन्तु वह इच्छित सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए ही पूजा करता है।

(३) सात्विक - इसमें भक्त भगवान् से कुछ पाने के लिए, उससे प्रेम नहीं करता परन्तु प्रेम के लिये ही प्रेम करता है। उसके सभी कर्म भगवान् को अर्पण होते जाते हैं, यज्ञ के रूप में किये जाते हैं। इस प्रकार की भक्ति के लक्षण हैं- भय, लज्जा और लेन-देन की भावना का न होना। परन्तु फिर भी प्रियतम से भेद रह जाता है।

उपरोक्त तीनों प्रकार की भक्ति सगुणोपासना से सम्बन्धित हैं। सर्वश्रेष्ठ भक्ति निर्गुण मानी गई है। इसमें मन सीधा भगवान् में लीन हो जाता है और फिर कभी अलग नहीं होता। भक्ति का अनवरत प्रवाह उनके चरण कमलों की ओर प्रवाहित होता है, जैसे गंगा समुद्र की ओर हमेशा बहती ही रहती हैं, भगवान् से प्रेम करने का कोई कारण या हेतु नहीं है। वह प्रेम के कारण ही भगवान् की सेवा करने का विशेषाधिकार चाहता है। वह बदले में चार प्रकार की मुक्ति भी नहीं चाहता। भक्ति मार्ग में ईश्वरीय प्रेम का यही असली स्वरूप है। इस प्रकार की भक्ति से भक्त आत्मा का ज्ञान प्राप्त करता है। वह तीन गुणों के परे हो जाता है। वह भगवान् से एक रूप हो जाता है। यद्यपि वह मुक्ति नहीं चाहता। तथापि वह स्वयंमेव मुक्त है। उसकी कोई कामना नहीं। उसकी सब आवश्यकताएँ भगवान के द्वारा पूरी की

जाती हैं। उसको सिद्धियों की कोई आवश्यकता नहीं परन्तु सभी सिद्धियाँ उसके इशारे पर नाचने को तैयार रहती हैं।

ऐसा ईश्वरीय प्रेम हममें किस प्रकार जागृत हो? यह अलग समस्या है। यद्यपि अपरा भक्ति का विकास प्रायः दीर्घकालीन और एकाग्र साधना के फलस्वरूप होता है और इसके पूर्ण कुछ हल्के दर्जे की भक्ति भी मिलती है तथापि यहाँ पर कुछ सामान्य उपदेश दिये जा सकते हैं। कृतार्थ हो चुके हैं, जो पवित्र हैं और दिव्य प्रेम की साकार प्रतिमा हैं उन महापुरूषों का सत्संग करो। उनसे भगवान् और भक्तों के प्रति उनके प्रेम के विषय में सुनो। उनकी सेवा करो और उनकी कृपा प्राप्त करो। ईश्वरीय प्रेम को पाने की तीव्र आकांक्षा रखो और भगवान से सतत् प्रार्थना करते रहो कि वे अपनी शुद्ध एवं निष्काम भक्ति तुम्हें दे दें। जो जैसी इच्छा रखता है वैसा ही वह प्राप्त करता है। भगवान कठोर और उदासीन नहीं हैं। वे करुणा की मूर्ति हैं। वे जानते हैं कि हमें किसी चीज की तलाश है। ज्योंही उन्हे मालूम होगा कि हम उनके प्रेम के भूखे हैं और हमें उनकी और केवल उन्हीं की तलाश है त्योंही वे हमें मनमानी अपार भक्ति का वरदान देंगे। यदि वे हमारी प्रार्थना नहीं सुनते तो इसमें दोष हमारा है। हम केवल भक्ति और मुक्ति की बातें करते हैं। हमारी प्रार्थनाएं झूठी हैं, बनावटी हैं, हार्दिक नहीं। हृदय और मन की अपवित्रता हमारे मार्ग में बाधक सिद्ध होती हैं। अतः हमें पक्षपात रहित होकर अपनी कमजोरियों का पता लगाना चाहिए और उनको एक-एक करके समूल नष्ट करने के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए। हमें उनसे सच्चे और सम्पूर्ण हृदय से प्रार्थना करनी चाहिए कि वे हमें अपने चरण कमलों

में अपार प्रेम दें और हमारे हृदय और मन में सदैव निवास करें। यदि हममें सच्चाई है और यदि हम अपने आपको उनके ईश्वरीय प्रेम का पात्र बनाने का भरसक प्रयत्न करें तो हमारे हृदय में कभी न कभी प्रेम का झरना फूट पड़ेगा और हमारे हृदय को आनन्द से भर देगा।

ज्ञान मार्ग:-

मनुष्य का ज्ञान मार्ग पर चलना तब प्रारम्भ होता है जब वह जीवन की समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना प्रारम्भ करता है और अपने आप को उन भ्रमों से मुक्त करने का प्रयत्न करता है जो उसके मन को घेरे हुए हैं। यह पहले के किसी अध्याय में पहले ही कहा गया है कि हम माया की दुनियां में रहते हैं और वही कल्पना करते हैं जो मायापति कल्पना करते हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने आपको संमोहन से मुक्त करें और उस भगवान् को देखें जो इस भ्रम को उत्पन्न करते हैं। जीवन के महान् रहस्य पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से क्रमशः उस रहस्य का उद्‌घाटन होगा और उस भ्रम या मोह का नाश होगा जिसमें हम सब फंसे हुए हैं। किसी व्यक्ति को सम्पूर्ण वेदों और दर्शनों के सिद्धान्तों का ज्ञान हो सकता है परन्तु जब तक वह विचार का अवलम्बन नहीं करता तब तक वह (ज्ञान) व्यर्थ है। विचार से तात्पर्य है कि सत् और असत् के बारे में गम्भीरतापूर्वक सोचना। यदि कोई व्यक्ति सत् और असत् पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो वह अवश्यमेव क्रमशः सम्पूर्ण असत् का परित्याग कर सत् का पता लगा लेगा।

'सत्' क्या है? जो वास्तविक है, शाश्वत है,

परिवर्तनरहित है, एक रूप है, न बढ़ता है न घटता है। सम्पूर्ण विश्व प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है, अतः वह सत् या वास्तविक नहीं हो सकता। जो कुछ तुम देखते हो वह वास्तविक नहीं हो सकता यद्यपि तुम उसे वास्तविक मानते हो। यहाँ तक कि शरीर भी जो हमें इतना सत्य दिखाई देता है, जरा भी सत्य नहीं है- वह सतत् परिवर्तनशील है और दूसरे ही क्षण नष्ट हो सकता है। यह अविद्या कहलाता है। हम असत्य और अस्थाई को सत्य और स्थाई मान लेते हैं। अतः हम दुःख भोगते हैं। हम कैसे मूर्ख हैं (भले ही हम बुद्धिवादी मूर्ख हों) हम अपने आस-पास की वस्तुओं को 'मेरा' मानते हैं, जबकि वे चीजें किसी भी क्षण हमसे छीनी जा सकती हैं। केवल वही चीज 'मेरी' हो सकती है जो हमेशा मेरे साथ रहे। अतः हमारे सब दुःखों का कारण इन आधारभूत चीजों के सम्बन्ध में विचारों की गड़बड़ी है। यह 'अविद्या' या उचित समझ या उचित ज्ञान के अभाव के कारण है। अतः इसकी दवा ज्ञान है।

इस ज्ञान को किस प्रकार प्राप्त किया जाय? जानो कि तुम कौन हो? यह 'मै' कौन है? हमारे 'ऋषि' प्रत्येक का कारण जानना चाहते थे। हम कैसे देखते हैं? हम कैसे सुनते हैं? मन के द्वारा। और मन को समझने की शक्ति कौन प्रदान करता है? मन के ऊपर भी कोई न कोई होगा जो उसे संचालित करता हो, जो उसे इंद्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त कराता हो।

वास्तविक द्रष्टा अवश्यमेव शरीर, मन और बुद्धि के भी परे होगा। वह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में वैसा ही रहेगा। अतः द्रष्टा की तलाश करो और जानो कि

तुम्हीं द्रष्टा हो। यह सबसे बड़ा विज्ञान है- आत्मा का विज्ञान। इस विज्ञान में तुमको अपने भीतर प्रवेश करना पड़ता है। यदि तुम किसी खजाने की खोज कर रहे हो जो किसी सन्दूक में एक कमरे में ताला लगाकर रख दिया गया है तो क्या तुम उस खजाने को बाहर सब जगह ढूंढ़ने से पा सकते हो? तुम्हें कमरे का ताला खोलना पड़ेगा। तभी तुम उस खजाने तक पहुंच सकोगे। अतः उस महान रहस्य का उद्घाटन करने के लिए अपने भीतर प्रवेश करो। जो जानते हैं उनसे सत्य का श्रवण करो, फिर सब कुछ छोड़कर तपस्या करो और सतत् ध्यान करो। जो स्वप्नावस्था में देखा जाता है वह सत्स्वरूप आत्मा में नहीं रह सकता। जो सत्य को जानना चाहते हैं उनको सम्पूर्ण असत् वस्तुओं का परित्याग करना चाहिए और संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक दोनों पद्धतियों का उपयोग करके 'एकमेवाद्वितीयम्' सत्य को जानने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। जो शाश्वत है उसे ही पकड़ो। यदि तुम केले के खम्भे को छीलते जाओ तो अन्त में केवल भीतरी गूदा बच रहेगा। इसी प्रकार यदि तुम 'नेति नेति' की पद्धति से सम्पूर्ण 'असत्' वस्तुओं को अलग हटाते जाओगे तो केवल सत्य ही बच रहेगा। अतः पंचकोषों और चेतना की तीन अवस्थाओं को छील डालो और तब अन्त में केवल द्रष्टा ही बच रहेगा। वही सत्य है, शेष सब असत्य है। ज्ञानमार्ग का अवलम्बन कर सत्य को जानने का एकमात्र यही तरीका है तुम भगवान् को केवल भगवान् बनकर ही जान सकते हो। आत्मा कमजोर लोगों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है, परन्तु उसे वे ही जान सकते हैं जो शक्तिशाली हैं, और जो

असत् को देखने पर उसे त्यागने को तत्पर रहते हैं।

व्यक्त विश्व के पीछे छिपे हुए महान् सत्य को जानना सम्भव है क्योंकि वही सत्य मानव हृदय में भी छिपा है। विश्व ब्रह्माण्ड है जबकि जीवात्मा पिण्डाण्ड है। हम पिण्डाण्ड को जानकर ब्रह्माण्ड के स्वभाव का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अंश के गुणों का अध्ययन करके हम सम्पूर्ण के गुणों को जान सकते हैं। समुद्र के थोड़े से जल का स्वाद लेकर हम यह जान सकते हैं कि समुद्र का स्वाद किस प्रकार का होता है? हम अपने शरीर को ही पिण्डाण्ड (छोटा ब्रह्माण्ड) मानें। क्या उसमें कोई ऐसी चीज है जो शाश्वत अथवा वास्तविक है जिसे हम सत् कह सकें? सोचो ! नही, वहां वह वस्तु नहीं है। तुम अपने शरीर को किस प्रकार देखते हो? नेत्रों से। नेत्र कैसे काम करते हैं? मन के द्वारा। सतत् परिवर्तनशील मन में क्या कोई वस्तु शाश्वत एवं सत्य है? नहीं। इस प्रकार तुम 'सत्' और 'असत्' का विश्लेषण करते हुए और एक के बाद दूसरी वस्तु का परित्याग करते हुए चले जाओ जब तक कि तुम अपने भीतर उस वस्तु तक नहीं पहुंच जाते जो परिवर्तन रहित है और जो सभी अवस्थाओं में एक रस रहता है। वही तुम्हारी आत्मा सत् है, जो तुम्हारी खोज का विषय है। तुम्हारे भीतर की यह आत्मा वस्तुतः उस परमात्मा से एक रूप है जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। जब कोई व्यक्ति सभी झूठी और असत्य वस्तुओं को दूर कर चुकता है और महान् सत्य की उपलब्धि कर चुकता है, जो परमात्मा का दूसरा नाम है। तब वह अनुभव करता है कि न जन्म है, न मृत्यु है, न मैं है, न 'मेरा' है। वह मालिक बन जाता है और अपनी दिव्यता को जान लेता है। उसमें आत्मा की कली

खिल जाती है और आत्म-साक्षात्कार का दिव्य पुष्प दृष्टिगोचर हो जाता है। उसने किसी ऐसी वस्तु की उपलब्धि नहीं की है जो पहले वह हमेशा मौजूद नहीं थी। वह उसे मनुष्य की तरह है जो उस हार की खोज में लगा रहता था जो सदा उसके गले में पड़ा था अथवा उस मृग की तरह है जो कस्तुरी की तलाश सब जगह करता है जबकि वह हमेशा उसके भीतर ही मौजूद रहती है। तब वह पहली बार असत् विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं का सही मूल्यांकन कर सकता है। यदि तुम एक कतार में हजार शून्य रख दो तो उनका कोई मूल्य नहीं। उनके पहले १ रख दो तो प्रत्येक शून्य को उस पंक्ति में अपनी स्थिति के अनुसार मूल्य मिल जाता है। अतः यह १ ही है जो शून्यों को मूल्य प्रदान करता है। इसी प्रकार यह आत्मा ही है जो व्यक्त विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं को महत्व और अर्थ प्रदान करता है। जब तुम अपनी आत्मा को जानोगे तभी तुम यह जान सकते हो कि तुम्हारी पत्नी, तुम्हारा पुत्र या तुम्हारा गुरु वास्तव में क्या अर्थ रखते हैं?

बहुत लोगों को आश्चर्य होता है कि हमें आत्म-साक्षात्कार के द्वारा पूर्णता प्राप्त करने के पहले अनेकों दुःखों से भरे हुए सृष्टि क्रम से क्यों गुजरना पड़ता है? इस समस्या की चिन्ता करना और माया के राज्य में इसका उत्तर पाना व्यर्थ है। मान लो सम्पूर्ण विश्व भगवान के द्वारा बनाया गया है। परन्तु हमें जिससे प्रयोजन है वह वस्तु यह विश्व नहीं है परन्तु भ्रम की वह दुनिया है जो हमने उन सब उपायों का उपयोग करके बनाई है जिन्हें हमारा मन सोचकर निकाल सकता है। जब तक हम इसे अपने स्वनिर्मित संसार को नष्ट नहीं कर देते तब तक हम मुक्त नहीं हो सकते। यह

हमारे ही हाथ में है। इसी क्षण हम इस (स्वनिर्मित) विश्व का विनाश करके मुक्त हो सकते हैं। यदि तुम अपनी हथेली में किसी कष्टदायक वस्तु को रखे हुए हो और उसे फेंक नहीं देते तो इसमें दोष किसका है?

[illegible] यदि तुममें सच्ची लगन है और तुम सबके कारण जानना चाहते हो तो आगे बढ़ो और कारण की खोज करो। अन्त में तुम्हें ज्ञात होगा कि केवल उन्ही का अस्तित्व है और वे ही विश्व के मूल कारण हैं। इन चीजों को जानने के लिए तुमको अपने स्वनिर्मित संसार का और उसको बनाने वाले अहंकार का नाश करना होगा। यह निर्मित विश्व केवल माया के स्तर पर ही रह सकता है। जब तुम माया के स्तर के परे चले जाते हो तो वहां न सृष्टि है, न विनाश है, न समय है, न स्थान है, जो सचमुच है वह हमेशा शाश्वत रूप से रहेगा। वही सत् है।

[illegible] तुम असत्य के परदे को हटाने के लिए इस मिथ्या जगत के ही साधनों का उपयोग करते हो। तुम कांटें को निकालने के लिए दूसरा कांटा लेते हो और फिर दोनों को फेंक देते हो। साधना में काम में लाये गये सभी उपाय असत्य है परन्तु उनका उपयोग आवरण स्वरूप असत्य को दूर करने के लिए किया जाता है ! जब सत्य का ज्ञान होता है तब न संसार रहता है, न बन्धन रहता है और न साधना रहती है केवल वही शाश्वत 'सत' अन्तिम सत्य बच रहता है अतः तुम देखोगे कि इस विश्व के, जो कि ब्रह्माण्ड है, यथार्थ रूप को जानने का एक मात्र मार्ग अपने आपको पिण्डाण्ड को जानना है।

विभिन्न मार्गों की समस्या पर विचार करते समय

उन लोगों को चेतावनी के रूप में कुछ शब्द कहना आवश्यक है, जो बिना सोच-विचार के या तो पुस्तकें पढ़ कर अथवा सामान्य योगिक क्रियाओं का वाह्य ज्ञान रखने वाले नाम-मात्र के योगियों के मार्ग प्रदर्शन में विभिन्न योगिक क्रियायें करते हैं। समुचित मार्ग प्रदर्शन के अभाव में और आवश्यक नियमों का पालन न करने के कारण अनेकों ने प्राणायाम का अभ्यास करके अपना जीवन बरबाद कर डाला है। यदि मध्यम मार्ग से और सही ढंग से प्राणायाम का अभ्यास किया जाय तो वह उपयोगी सिद्ध होता है। परन्तु इसके लिए अभ्यासी को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, भोजन पर अवश्यमेव नियंत्रण रखना चाहिए और पूर्ण संतुलित एवं आत्म-निग्रही जीवन बिताना चाहिए। मस्तिष्क एक बहुत ही सूक्ष्म यंत्र है और बिना सोचे-विचारे नाम मात्र की योगिक क्रियाओं को करने से वह आसानी से बिगड़ सकता है।

हठयोग का ध्यान प्रायः स्थूल शरीर पर ही केन्द्रित रहता है। स्थूल शरीर को नियंत्रित करने से चमत्कार के कई कार्य करना और आयु बढ़ाना सम्भव है। परन्तु जो भगवान् को जानना चाहता है और मुक्त होना चाहता है उसके लिए इन सब का भला क्या उपयोग हो सकता है।

छठा अध्याय

धर्म क्या है? सनातन धर्म

दु:ख का कारण और उसका अन्त करने का एकमात्र सफल उपाय के बारे में जो कुछ उपरोक्त कथन किया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि सच्चा धर्म केवल यंत्रवत् कुछ निश्चित क्रियाओं से गुजरने में ही नहीं है। अपने सच्चे अर्थ में धर्म हमें अपनी दिव्यता का अधिकाधिक विकास करने में सहायता देता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, हमारा सच्चा और अन्तरतम रूप दिव्य है। वह हमारे मलिन स्वभाव रूपी राख से ढकी अग्नि की तरह है। हमें केवल राख को हटाना है और तब आग अपनी सम्पूर्ण तेजी और शान के साथ भड़क उठेगी। भगवान् हमारे हृदय में मानों परदे के पीछे छिपे हैं। हमें उनका दर्शन पाने के लिए केवल परदे को हटाने की आवश्यकता है।

हिन्दू-धर्म को केवल किसी विशेष आचार्य के द्वारा निर्धारित आचरण-सहिंता नहीं मानना चाहिए। इसे हमें जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालने वाले एक शाश्वत नियम की अभिव्यक्ति मानना चाहिए। इसलिए यह सनातन धर्म शाश्वत धर्म कहलाता है। यह गुरुत्वाकर्षण के नियम के समान है जो भौतिक जगत् की अद्‌भुत प्राकृतिक घटनाओं को नियंत्रित करता है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही गुरुत्वाकर्षण के नियम का अस्तित्व है। यह भौतिक जगत् के अस्तित्व में ही समाया हुआ है। चाहे लोग उसे जाने अथवा उसके विषय में अनभिज्ञ रहें परन्तु इससे प्रकृति की अद्‌भुत

घटनाओं पर पड़ने वाले उसके प्रभाव में कोई अन्तर नहीं पहुंचता। न्यूटन ने सिर्फ इस नियम को खोज निकाला था और इस प्रकार उसने मनुष्य जाति को अद्‌भुत प्राकृतिक घटनाओं को समझाने में और कुछ उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए उसका उपयोग करने में सहायता दी थी। इस नियम के अभाव में कई वैज्ञानिक अनुसंधान न हो पाते ।

इसी प्रकार सनातन धर्म या शाश्वत धर्म सृष्टि के प्रारम्भ से ही चला आ रहा है। यह भौतिक और अतिभौतिक संसारों के स्वभाव में ही समाया हुआ है और जीवन के हर पहलू को नियंत्रित करता है। हमारे ऋषियों ने केवल इस सर्वव्यापी नियम के विभिन्न पहलुओं को खोज निकाला था और उसे हमारे श्रुतियों और स्मृतियों में शामिल कर लिया था। उन्होनें संसार के अन्तिम सत्य का पता लगाने के लिए अपने भीतर अधिकाधिक गहरा गोता लगाकर ये अनुसंधान किये थे।

संसार में समयानुसार उत्पन्न होने वाले विभिन्न धर्मो ने मनुष्य जाति को एकमात्र सत्य के विभिन्न रूप प्रदान किये, अतः उनकी तुलना नदियों से की जा सकती है जो समुद्र से उत्पन्न होती हैं और भूमि पर प्रवाहित होकर पुनः समुद्र में जा गिरती हैं।

सातवाँ अध्याय

विवेक और विचार के द्वारा इच्छा की तीव्रता

जिन्हें धर्म में दिलचस्पी है ऐसे कई लोग अध्यात्म जीवन की कामना करते हैं परन्तु उनकी यह कामना, अस्पष्ट, अनिश्चित और बड़ी कमजोर रहती है। इच्छा की तीव्रता ही आत्मासाक्षात्कार करा सकती है। सैद्धान्तिक रूप से यदि हम सांसारिक इच्छाओं से अपने आप को पूर्णतया मुक्त कर लें तो एक क्षण में मुक्त हो सकते हैं परन्तु वास्तविक जीवन में हमें भगवत्प्राप्ति की अपनी इच्छा को क्रमशः अधिकाधिक तीव्र बनाना होगा जब तक हमारे मन पर अपना पूर्ण अधिकार न कर लें। हमें उनके दर्शन की सच्ची भूख, और गहरी आकांक्षा सदैव होनी ही चाहिए। वह भूख कैसे उत्पन्न की जा सकती है? यह निरन्तर और दीर्घकाल तक की गई साधना का फल है। परन्तु हम दृढ़ निश्चय और एकाग्र मन से साधना कर सकें इसके पूर्व हमें कुछ प्रारम्भिक कार्य करने होंगे और इस प्रारम्भिक कार्य में विवेक और विचार का बड़ा महत्व है।

सर्वप्रथम हमें अवलोकन, अध्ययन और विचार से यह अवश्यमेव अनुभव कर लेना चाहिए कि वाह्य जगत् में हमारे द्वारा निर्धारित लक्ष्य और उनकी प्राप्ति पूर्णयता व्यर्थ है। हमें बड़ी सच्चाई से और आलोचनात्मक ढंग से अवश्यमेव विचार करना चाहिए कि हम अपने सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये गये प्रयत्नों से क्या पा सके हैं? क्या सम्पत्ति, नाम, कीर्ति, पत्नी, संतान, शारीकि सुख और भोग

हमें किसी प्रकार का चिरस्थाई सुख, मन की शान्ति या आन्तरिक शक्ति दे सके हैं? अपनी बड़ी सफलताओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करने पर हम देखेंगे कि हमारा लाभ वस्तुतः सांसारिक सुखों की मृगतृष्णा में ही भटक रहें हैं। यह केवल लगन से सोचने और सच्चाई से जांच-पड़ताल करने का प्रश्न है। इस प्रकार के विचार और सतत् चिन्तन के फलस्वरूप हमें मन की सच्ची आस्था प्राप्त होगी जिसमें विवेक और वैराग्य का निवास रहता है। लोग कभी-कभी पूछते हैं कि हम सत्य और असत्य का भेद किस प्रकार कर सकते हैं। जबकि हम सत्य को नहीं जानते? जीवन के स्वभाव, उनकी सीमाओं और भ्रमों का सतत् अवलोकन और चिन्तन करते हुए इस असत् संसार को नष्ट कर दो। जिस संसार में तुम निवास करते हो उसके परिवर्तनशील और भ्रामक स्वभाव का जब तुम सच्चा अनुभव कर लेते हो तो तुम इसमें आसक्त नहीं रह सकते। इसलिए सदैव विचार करते ही रहो। इस असत्य संसार का स्वभाव क्या है? सत्य क्या है? जीवन का लक्ष्य क्या है? इस लक्ष्य तक कैसे पहुंचा जा सकता है? यह सत्य है कि केवल विचार करने से विशेष लाभ नहीं होता। तुमको तलाश करनी चाहिए और कार्य करना चाहिए। परन्तु तुम गम्भीरतापूर्वक विचार किये बिना और स्पष्ट परिणामों तक पहुंचे बिना सच्चाई से अनुसंधान कार्य नहीं कर सकते। इन मौलिक प्रश्नों पर जो विचार नहीं करते वे किस प्रकार इनको ठीक-ठीक हल कर सकते हैं? बुद्धि का उपयोग क्या है? उससे काम लेना और सत्य की खोज करना। क्योंकि जो मनुष्य अपनी बुद्धि का उपयोग करता है वही जीवन के

जटिल प्रश्नों को हल कर सकता है। संसार के क्षणिक सुखों की ओर हमेशा दौड़ते रहना और अपने भीतर स्थित सब सुखों के उद्‌गम स्थान की ओर से उदासीन हो जाना निरी मूर्खता है। वशिष्ठ ने कहा कि आत्मा का साक्षात्कार करना फूल तोड़ने से भी अधिक आसान है। क्यों? क्योंकि फूल तोड़ने के लिए हमें हाथ बढ़ाना पड़ता है और प्रयत्न करना पड़ता है। परन्तु आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए हमें केवल भीतर देखना है। सत्य हमारे भीतर पहले से ही मौजूद है। हमें केवल उसे खोजना है। विचार और चिन्तन के द्वारा असत्य संसार का नाश करना इस प्रारम्भ कार्य का निषेधात्मक (negative) रूप है। इसका विधेयात्मक (Positive) रूप है- अध्यात्म-जीवन में अपने लक्ष्य प्राप्ति के महान् मूल्यों का सतत् ध्यान करना। जब हम सच्चिदानन्द स्वरूप अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित हो जावेंगे। तब हमें जो प्राप्ति होगी और उसके मूल्य का अनुभव करने का प्रयत्न हमें अवश्यमेव करना चाहिए। अध्यात्म -जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने और भगवान् को खोजने का थोड़ा भी अनुभव यदि किसी व्यक्ति को हो जाय तो वह बाह्य जगत् की सभी वस्तुओं का परित्याग कर देगा और केवल लक्ष्य की ओर दौड़ेगा। अधिकांश साधकों के सम्बन्ध में वास्तविक कठिनाई यही होती है कि आत्म-साक्षात्कार के इस महान् स्वरूप का स्पष्ट चित्र उनके मन में अंकित नहीं होता और उनके विचारों में गढ़बड़ी रहती है। यही कारण है कि उनके प्रयत्न अधूरे रहते हैं और वे बड़ी जल्दी निराश हो जाते हैं। हम जो कुछ चाहते हैं उसकी स्पष्ट कल्पना हमारे मन में होनी चाहिए। हमारे उद्देश्य की रूपरेखा स्पष्ट होनी चाहिए।

परीक्षा में जो विद्यार्थी उत्तीर्ण होते हैं उनके विचार स्पष्ट होते हैं, जो अनुत्तीर्ण होते हैं उनके विचारों में गड़बड़ी रहती है। हमें अपना लक्ष्य नहीं बदलना चाहिए। हमें स्थिर निश्चय रखना चाहिए। तभी हम सम्पूर्ण हृदय से अपने आपको अनुसंधान कार्य में लगा सकते हैं।

ईश्वर के अनुसंधान कार्य की इच्छा को तीव्र बनाने की समस्या पर विचार करते समय हमें इस बात की जांच करनी चाहिए कि सांसारिक वस्तुओं की इच्छा किस प्रकार उत्पन्न और तीव्र होती है। सांसारिक आकांक्षा रखने वाला एक सामान्य व्यक्ति गवर्नर के जीवन के विषय में सुनता है, उसे ज्ञात होता है कि मासिक आय ५०००) है, विशाल भवन में रहता है और हजारों लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। वह गवर्नर के जीवन का जितना ही अधिक चिन्तन और ध्यान करता है, गवर्नर बनने की उसकी इच्छा उतनी ही अधिक तीव्र होती जाती है। इसी प्रकार महात्माओं के मुख से भगवान् और आत्म साक्षात्कार के आनन्द की महिमा सुनते-सुनते भगवान् को पाने की इच्छा उत्पन्न और तीव्र होती है। इसीलिए गीता में भगवान् कहते हैं "एकमात्र मेरा ही विचार करो, तब तुम एकमात्र मुझमें ही निवास करोगे।" भगवान् का सतत् चिन्तन करने के लिए धन और किसी बाहरी साहयता की आवश्यकता नहीं है। और वही सांसारिक कठिनाइयों से बाहर आने का सब से सुगम रास्ता है। जब तुम भगवान् के विषय में भक्ति पूर्वक और सच्चाई से सोचना प्रारम्भ करते हो तब तुम सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त

होने के मार्ग से लग जाते हो। यदि हम उन पर पूर्णतया और बिना हिचकिचाहट के निर्भर रहते हैं तो वे हमारी बाहरी और भीतरी दोनों जगत की आवश्यकाताओं की पूर्ति करेंगे। परन्तु "मुर्ख अपने हाथ में रखे खीर को नहीं खाता बल्कि सब जगह भिक्षा मांगता फिरता है।"

आठवां अध्याय

साधना

जो कुछ अध्ययन किया गया है उसे यदि साधक काम में नहीं लाता तो धर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान अधिक उपयोगी नहीं होता। उसे पूर्ण वेद, उपनिषद और अन्य धार्मिक ग्रन्थ कण्ठस्थ हो सकते हैं परन्तु यदि वह उनमें दिये गये आदेशों का पालन नहीं करता तो वह अन्धकार में रहेगा और दुःख भोगता ही रहेगा। अभ्यास के द्वारा हम न केवल आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन करने के मार्ग में आगे बढ़ते जाते हैं। परन्तु अपने धार्मिक ग्रन्थों के गुप्त वास्तविक अर्थों को समझते भी जाते हैं। साधक सम्पूर्ण भगवत्गीता को कंठस्थ कर सकता है परन्तु यदि वह उसकी शिक्षाओं का पालन करने का प्रयास नहीं करता तो वह उसे ठीक-ठीक नहीं समझ सकेगा। यहां तक कि यदि कोई व्यक्ति तपस्या नहीं करता और प्रेम का विकास नहीं करता तो उसके लिए भागवत के समान सरल पुस्तक भी अर्थहीन ही रह जाती है। अतः साधना ही हमारे ग्रन्थों में दिये गये आध्यात्मिक ज्ञान तक ले जाने वाले द्वार का उद्घाटन करती है। धर्म केवल सैद्धांतिक ज्ञान प्राप्त करने का नहीं परन्तु होने और बनने का प्रश्न है।

कई मनुष्यों के मन में यह शंका रहती है कि वे आत्म सुधार के लिए जो प्रयत्न कर रहे हैं वे उपयोगी हैं या नहीं। उनका मन प्रारब्ध या पूर्वनिर्धारित भाग्य की भावना से ग्रस्त रहता है। 'पूर्वनिश्चित भाग्य' कोई चीज नहीं। हमने जो

बोया है उसी का फल हम भोग रहे हैं। हमें अपने दुष्कर्मों का फल भोगने और अपनी दुष्प्रवृत्तियों को बदलने के अवसर बार-बार दिये जाते हैं। शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों की लड़ाई दो बकरों की लड़ाई की तरह है। जो अधिक शक्तिशाली होगा वह कमजोर को पीछे हटा देगा। कृष्ण की शरण में जाओ और दुष्प्रवृत्तियों से युद्ध करने के कार्य में उनकी शक्ति को तुम्हारे पक्ष से काम करने दो। तुम उन्हें अपना सारथी बना लो। यदि तुम अपने कंधों पर जिम्मेदारी लेते हो, यदि तुम अपनी अल्प-शक्ति पर विश्वास करते हो तो तुम पराजित हो जाओगे।

साधना- के विषय का प्रतिपादन करते समय हमें उन मानसिक और नैतिक गुणों पर विचार करना ही होगा, जिनका विकास साधक को अवश्यमेव करना चाहिए और उन साधनों पर भी हमें विचार करना होगा जिनका अनुसरण इन परमावश्यक गुणों का विकास करने के लिये करना चाहिए। योगी को जिन ''दिव्य'' गुणों का विकास करना चाहिए। उनका वर्णन भगवद्गीता के १६ वें अध्याय में किया गया है।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

भागवत् में भगवान् कपिल ने देवहूति को निम्नलिखित उपदेश दिया है:-

(१) अपने कर्त्तव्यों का पालन पूर्णमनोयोग के साथ करो परन्तु फलों की चिन्ता मत करो। (२) पूजा करो परन्तु वह किसी के लिए हानिकारक न हो। (३) किसी की भावनाओं को ठेस मत पहुंचाओ। (४) पवित्र स्थानों पर जाओ। (५) नमस्कार करो। (६) सब प्राणियों में भगवान् के दर्शन करो। (७) किसी जीव या वस्तु में आसक्त मत होओ। (८) अपने मन को सदा उच्च स्थिति में रखो। (९) जो महान् है उनकी पूजा करो। (१०) जो गरीब है उनसे प्रेम और सहानुभूति रखो। (११) सबसे मित्रता रखो। (१२) यम और नियम का पालन करो। (१३) हमेशा धार्मिक ग्रन्थों का श्रवण करो। (१४) मेरे नामों और मंत्रों का जप करो। (१५) निर्भय बनो। (१६) हमेशा सत्संग करो। (१७) अहंकार से मुक्त रहो। तभी मन पूर्णतया पवित्र और भक्ति के लिए उपयोगी होगा। साधक को यह ज्ञात होगा कि विभिन्न आचार्यों ने आध्यात्मिक प्रकाश को प्राप्त करने के लिए आवश्यक गुणों का वर्णन विभिन्न रीतियों से किया है, परन्तु मूलतः वे एक ही हैं और निम्नलिखित पैराग्राफों में उनमें से कुछ गुणों पर संक्षेप में विचार किया जावेगा।

सच्चाई - हमें कार्य, विचार और वचन-सभी में सभ्यता का अवलम्बन करना चाहिए। सच्चाई के बिना अध्यात्मजीवन में कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं की जा सकती, जबकि सच्चे प्रयत्न से कालान्तर में सभी चीजें प्राप्त की जा सकती है। सच्चाई का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि हमारे विचार और भाव

हमारे बाहरी कार्यों से एकत्व रखें। परन्तु यह भी है हमारे प्रयत्न, उत्साह और पूर्ण मनोयोग के साथ किये जायें। केवल दिनचर्या समझकर अथवा केवल आदत के कारण बिना उचित दृष्टिकोण या भाव के कार्यों को करने से अधिक लाभ नहीं हो सकता। तुलसीदास जी को देखावटीपन अप्रिय था अतः उन्होने मन, शरीर और वचन में कपट न रखने की चेतावनी बार-बार दी है। हमें सत्यवादी होना चाहिये। सत्य बोलना सरल है या झूठ? बहुत लोग हर समय इस भ्रम में पडकर सदैव झूठ बोलते हैं कि वे इस प्रकार आसानी से कठिनाइयों से बच सकते हैं। अनेकों वकील अपने मुकदमों को जीतने के लिये झूठी बातें गढ़ने में अपना अधिकांश समय और शक्ति खर्च कर देते हैं। वे बड़ी सावधानी से बहस तैयार करते हैं, जिन्हें बनाने में उन्हे कई घण्टे और कई दिन लग जाते हैं। जबकि सादा सत्य केवल कुछ मिनटों में ही बताया जा सकता है। सत्य का जीवन बिताना असत्यपूर्ण जीवन बिताने से कई गुना अधिक आसान है। इसी प्रकार सत्य पर आधारित निष्कपट आध्यात्मिक जीवन मिथ्याडम्बर, मिथ्याचार और असत्यता पर आधारित कृत्रिमतापूर्ण, जीवन से कई गुना अधिक श्रेयस्कर है। हम जीवन की समस्याओं को इच्छाओं के कुहासे से देखते हैं और हमारा मन भ्रम के बादलों से आच्छादित है अतः वह सत्यतापूर्ण जीवन हमें कठिन जान पड़ता है।

श्रद्धा- श्रद्धा केवल विश्वास नहीं है। यह एक महान् गत्यात्मक शक्ति है और श्रद्धा के बिना आध्यात्मिक जीवन में प्रगति संभव नहीं है। जो कुछ तुम करते हो उसे या तो श्रद्धा पूर्वक

करो अथवा मत करो। श्रद्धा के बिना जो कुछ किया जाता है वह व्यर्थ होता है। यदि तुम बिना श्रद्धा के दान देते हो तो वह व्यर्थ है। यदि तुम हिमालय में श्रद्धा रहित होकर तपस्या करते हो तो वह निरर्थक है। यदि तुम श्रद्धा रहित होकर उपासना करते हो तो उसका कोई मूल्य नहीं। श्रद्धा का अभाव संसार को नष्ट कर रहा है।

श्रद्धा और ज्ञान एक दूसरे की अन्योन्य वृद्धि करते हैं। बिना सच्चे ज्ञान के सच्ची श्रद्धा नहीं हो सकती, परन्तु थोड़ी सी श्रद्धा से कुछ ज्ञान प्राप्त होता है और यह श्रद्धा को कुछ आगे बढ़ाता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे की पुष्टि करते जाते हैं जब तक कि सच्चे ज्ञान और सच्ची श्रद्धा की उत्पत्ति नहीं हो जाती। वास्तविक अनुभव से ही श्रद्धा पक्की बनती है।

त्याग- त्याग करना क्यों आवश्यक है।? क्यों न हम खायें, पियें और मौज करें? वास्तविक कठिनाई तो यह है कि जब तक कोई व्यक्ति विषय-भोग से ऊपर नहीं उठ जाता है तब तक उसे सच्चे सुख या आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक व्यक्ति सुखी होना चाहता है परन्तु सुखी होने का एक ही रास्ता है- अपने ही भीतर सुख की तलाश करना। इंद्रियों के भोगों के पीछे मत दौड़ो। इस प्रवृत्ति का दमन करो। बाहर जो कुछ भी है वह अस्थायी और नश्वर है। इन वस्तुओं में अपना मस्तिष्क और हृदय लगाने से क्या लाभ; जो किसी भी क्षण छीनी जा सकती है। जो प्रलोभन का दमन करते हैं और मन को अनासक्त रखते हैं- केवल वे ही बुद्धिमान हैं अन्य वे सब लोग मूर्ख हैं जो संसार की भ्रामक

और नश्वर वस्तुओं के पीछे दौडते हैं, भले ही वे बड़े विद्वान और बुद्धिवादी हों और अपने आपको बड़ा बुद्धिमान मानते हों। सच्चा आनन्द शान्ति से ही आ सकता है और पूर्ण त्याग के बिना शान्ति सम्भव नहीं है। बुद्धिमान् मनुष्य पूर्णतया अनासक्त रहता है और सदैव भगवान के साथ रहता है। एक प्रकार से हम सभी भगवान के साथ रहते हैं परन्तु हमें इसका ज्ञान नहीं होता।

त्याग की आवश्यकता के बारे में हमारे मन में स्पष्ट विचार होना चाहिए। भगवत्साक्षात्कार के पहले सभी सांसारिक लक्ष्यों और इच्छाओं का परित्याग करना हमारे लिए परमावश्यक है। सांसारिक जीवन के प्रति हमारे आकर्षण का कारण हमारी अज्ञानता है। यदि मैं सांसारिक वस्तुओं की व्यर्थता का ज्ञान प्राप्त कर लेता हूं तो उनके लिए मेरे मन में कोई आकर्षण नहीं रहेगा परन्तु यदि मैं उन्हें महत्वपूर्ण मानता हूं तो वे मुझे आकर्षित करते ही रहेंगे। भगवान ने हमें बुद्धि दी है। तुम अपनी आंखों को खोलकर क्यों नहीं देखते और स्वभावतः ही त्याग क्यों नहीं करते ? पूर्ण त्याग होना चाहिए, उसमें मन में संग्रह की भावना और अपनी सुरक्षा के लिए खास-खास जरुरी चीजों को रखना नहीं होना चाहिए। भीतरी त्याग बाहरी त्याग से अधिक महत्वपूर्ण है, परन्तु बाहरी त्याग के बिना हम अपने आपको धोखे में डालकर यह सोच सकते हैं कि हममें त्याग है जबकि वास्तव में हम आसक्त हैं।

ध्यान देने की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि पहले त्याग आता है और फिर साक्षात्कार होता है। बाह्य जीवन में हम प्रायः अधिक प्रिय वस्तु को पहले प्राप्त करने का

प्रयत्न करते हैं और बाद में कम प्रिय वस्तुओं का परित्याग करते हैं परन्तु आध्यात्मिक जीवन में हमें श्रद्धा होनी ही चाहिये और आनन्दपूर्वक त्याग करना चाहिये क्योंकि हमें प्रकृति के नियमों में और भगवान् की उदारता में पूर्ण विश्वास है।

आत्मसमर्पण- इससे हम दूसरे सद्गुण अनन्यता तक पहुंचते हैं जिसका विकास भक्त को करना आवश्यक है। तुम्हें प्रत्येक वस्तु में भगवान् पर निर्भर रहने की आदत डालनी चाहिए। यहां तक कि हमें रोगों से लड़ने में और अपनी सांसारिक कठिनाइयों को दूर करने में भी भगवान् पर अवश्यमेव पूर्ण निर्भर रहना चाहिए। यह कठिन है, परन्तु हम धीरे-धीरे इस अभ्यास को बढ़ा सकते हैं और हम सासांरिक चिन्ताओं से, अपने आपको पूर्णतया मुक्त कर सकते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम दैनिक जीवन में काम आने वाली सभी तुच्छ वस्तुओं के लिए प्रार्थना करते रहें। बुद्धिमान मनुष्य भगवान् से कोई वस्तु नहीं चाहता क्योंकि वह जानता है कि ईश्वर जो कुछ करता है वह उस विशेष परिस्थिति में उसके लिये सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु यदि हम श्रद्धा एवं अनासक्ति के उस स्तर तक नहीं पहुंचे है और यदि हमारे जीवन में कोई भयंकर आपत्ति आ पड़ी है तो उस आपत्ति को दूर करने के लिए स्वनिर्मित उपायों को काम में लाने की अपेक्षा भगवान् से प्रार्थना करना और उस पर आश्रित रहना अधिक श्रेयस्कर है। आखिर वे हमारे पिता हैं और अपनी आवश्यक चीजों को पिता से मांगने में कोई दोष नहीं है।

साधारण व्यक्ति इस प्रकार भगवान् पर निर्भर नहीं रह सकता क्योंकि उसमें आवश्यक श्रद्धा का अभाव है और उसका मन सांसारिक इच्छाओं से परिपूर्ण है परन्तु जो मनुष्य भगवान् की कृपा और भक्ति चाहता है उसे उन पर निर्भर रहना आवश्यक सीख लेना चाहिए। गृहस्थ के लिये ऐसी भावना रखना कठिन है परन्तु दृढ़ निश्चयपूर्वक मन को प्रशिक्षण देने से यह सम्भव है। गृहस्थ जीवन को ऐसा युद्ध क्षेत्र मानना चाहिए जिसमें हमें अपनी मलिन वासनाओं से सतत् युद्ध करना पड़ता है और आवश्यक शक्ति एवं पवित्रता का विकास करना पड़ता है। यदि तुम शीघ्र ही अनन्यता का विकास करना चाहते हो, तो किसी एकान्त निर्जन स्थान को चले जाओ जो सभ्यता से दूर हो। देखो कि किस प्रकार उनके अदृश्य हाथों से तुम्हारी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति ठीक समय पर की जाती है। तभी तुम उसकी महानता, उसकी शक्ति और अपने भक्तों के लिये उसकी व्यग्रता का अनुभव कर सकोगे। जब तुमको इस प्रकार के अनुभव होंगे तब तुम सभी परिस्थितियों में उस पर निर्भर रह सकोगे। साधारण मनुष्य को उनकी शक्ति का ज्ञान नहीं होता। वह नहीं जानता कि हमारे जीवन में प्रत्येक वस्तु उन्हीं से आती है चाहे इसका ज्ञान हो या नहीं। यही कारण है कि वह उन पर निर्भर नहीं रह सकता। परन्तु भक्त में अनन्यता होनी ही चाहिये।

इच्छारहित होना - साधक के लिए 'मेरा' और 'तेरा' (अधिकार) भावना अवश्यमेव नष्ट होनी चाहिये। राम और काम साथ-साथ नहीं रह सकते। मेरापन की भावना का

सम्बन्ध उसी से स्थापित किया जाना चाहिये जो सचमुच मेरा हो शेष सारी चीजें अनित्य हैं और हमें केवल थोड़े समय के लिए दी गई है अतः उनमें आसक्त होना मूर्खता है। तुम केवल भगवान् को ही अपना मानो क्योंकि वे तुम्हारी अन्तरात्मा में और तुम्हारे साथ सदा रह सकते हैं। केवल वे ही शान्ति पा सकते हैं जो निर्मोह और निरहंकार है। अतः वाह्य संसार की वस्तुओं में पूर्णतया अनासक्त रह कर उन्हीं में आसक्ति बढ़ाओ। हिरण मृगतृष्णा की ओर दौड़ता है क्योंकि वह पशु है और उसमें बुद्धि नहीं है। परन्तु भगवान् ने हमें बुद्धि दी है और हमें भ्रम आकर्षणों की ओर पशु की तरह नहीं दौड़ना चाहिए जबकि आनन्द का उद्गम हमारे भीतर ही छिपा है।

शक्ति का परिवर्तन- शक्ति किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त होती ही है चाहे वह रूप शारीरिक हो, भावात्मक हो या मानसिक हो। उसे बदलने या ऊंचे स्तर तक ऊपर उठाने के लिए हमें उसके निम्न स्तरों पर बांध बाँधना पड़ेगा। हमारी इच्छाओं की शक्ति वाह्य संसार की विभिन्न वस्तुओं के पीछे भागने में नष्ट हो रही है। हमें भगवान् और केवल भगवान् को ही चाहने के लिए निम्न जगत की वस्तुओं की चाह छोड़नी होगी। इससे हमारी जीवन में क्षणिक शून्यता आ सकती है परन्तु यदि हम दृढ़ निश्चयपूर्वक डटे रहें और अपने आप को नीचे न गिरने दे तो इस प्रकार एकत्रित की गई शक्ति कभी न कभी भगवत्प्राप्ति की तीव्र इच्छा के रूप में प्रकट होती है जिसे मुमुक्षा कहते हैं। यदि शक्ति हो तो उसे बदलना सरल है। किसी भी व्यक्ति को

केवल उसकी दिशा बदलनी है। यदि इच्छा न हो तो उसे बदलना बड़ा कठिन होता है। उस स्थिति में पहले शक्ति के स्वाभाविक प्रवाह में आने वाली बाधा को हटाना ही होगा। शारीरिक और भावात्मक शक्ति के नष्ट होने के कई रास्ते हैं जिसमें से एक कामवासना है इसीलिए ब्रह्मचर्य अध्यात्म-जीवन का प्राण है।

ब्रह्मचर्य- आजकल ब्रह्मचर्य आश्रम का अभाव है। लड़के-लड़कियां आत्म-संयम की किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण किये बिना और अपने भले-बुरे का ज्ञान प्राप्त किये बिना ही विवाह कर लेते हैं। प्रत्येक लड़के अथवा लड़की को चाहिए कि गृहस्थाश्रम के युद्धक्षेत्र में प्रवेश करने के पहले अपने आप को ब्रह्मचर्य की शक्ति से सुसज्जित कर ले। तभी कोई व्यक्ति उस आत्मसंयम के साथ गृहस्थ जीवन बिता सकता है, जो मुक्ति एवं शक्ति प्रदान करता है। हमारे शास्त्र निश्चित नियम देते हैं, कुछ दिन निश्चित किये गये हैं जैसे एकादशी पूर्णिमा आदि जब पुरूष अपनी पत्नी के पास नहीं जाता। इसका क्या अर्थ है? इसका यह अर्थ है कि वह आत्मनियंत्रण करना सीखे। यद्यपि उसकी वासनाएँ तृप्त होने के लिए चीख रही हों तथापि उसे इन नियमों का पालन करने के लिए और एक आदर्श गृहस्थ बनने के लिए आत्मनियंत्रण का अभ्यास करना ही होगा। विवाह बन्धन केवल संतान उत्पन्न करने के लिए ही नहीं है परन्तु आत्म-संयम का प्रशिक्षण देने के लिए भी है। आत्म संयम के बिना कोई भी व्यक्ति सुखी या बलवान् नहीं बन सकता। जब तुम अपनी निम्न मलिन वासनाओं के स्वामी बन जाओगे और उनमें दासवत् आसक्त नहीं रहोगे तभी जीवन

का सच्चा आनन्द उठा सकते हो। एक साथ ही उनमें बुद्धिमत्तापूर्ण आसक्ति एवं अनासक्ति होनी चाहिए। केवल तभी तुम स्वतंत्रतापूर्वक रह सकते हो। तुम जितनी चीजों के सम्पर्क में आते हो उनके साथ "मेरा" "मेरा" क्यों जोड़ते हो। तुम्हारी पत्नी या तुम्हारा पति दूसरे ही क्षण तुम्हें छोड़ सकता है और यदि तुम आसक्त हो तो तुम्हें अत्यन्त दुःखी होना पड़ेगा।

प्रायः लोग मेरे पास दुःखपूर्ण स्थिति में आते है। पति और पत्नी कई संतानों के साथ आते हैं। उनका जीवन नरक है। पत्नी का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, बच्चे कमजोर रहते हैं और पति दुःखी रहता है क्योंकि वह एक रुग्ण पत्नी और कई संतानों का भार नहीं उठा सकता। यहां तक कि वह उनको ठीक-ठीक खिला-पिला भी नहीं सकता। ऐसे जीवन से सारा आनन्द लुप्त हो जाता है।

यदि हम रुककर सोचें तो हमें ज्ञात होगा कि आत्म संयम का अभ्यास ही इन कष्टों को दूर कर सकता है। आत्म संयम पति-पत्नी के व्यक्तिगत जीवन में शक्ति प्रदान करेगा और सम्पूर्ण परिवार को आर्थिक सुरक्षा एवं कष्टों से मुक्ति प्रदान करेगा। आत्म संयम का अभ्यास प्रति बार हमें अधिकाधिक शरीरिक एवं मानसिक शक्ति प्रदान करता है, जब कि जितनी बार हम अपनी आदतों और इच्छाओं के प्रति सिर झुकाते हैं उतनी बार हम अधिकाधिक कमजोर बनते जाते हैं। यदि पति-पत्नी ठीक-ठीक संयमित जीवन बितायें तो गृहस्थाश्रम स्वर्ग बन सकता है। इसमें उन्हें जरूरतमन्दों की सहायता करने और साधु-सन्यासियों की सेवा करने का विशेषाधिकार प्राप्त होता है। वे भगवान् तथा

देवियों और देवताओं की पूजा कर सकते हैं। वे साधना कर सकते हे। और जीवन के महान् रहस्यों को समझाने का प्रयत्न कर सकते हैं और भगवान् को जान सकते हैं। प्रायः हमारे कष्टों के कारण हमारी कमजोरी और आत्मसंयम का अभाव ही होते हैं परन्तु हम इसे समझने का प्रयत्न नहीं करते और गृहस्थाश्रम को दोष देते हैं। यदि हम अपनी बुद्धि का उपयोग करें और एक आदर्श गृहस्थ बनने का प्रयत्न करें तो हमें गरीबी में भी शान्ति एवं सुख की प्राप्ति होगी और हमारी सभी समस्याएँ काफूर हो जावेंगी।

प्रत्येक को आत्म-संयम का अभ्यास प्रारम्भ से ही करना चाहिए। यदि हम मन को अपनी इच्छानुसार कार्य करने दें तो हम क्रमशः उसके दास बन जावेंगे। हममें शक्ति होनी ही चाहिए। आत्म-संयम के अभ्यास से कोई भी व्यक्ति अपने मन और इन्द्रियों का स्वामी बन सकता है। सच्चा विजेता कौन है? नैपोलियन? हिटलर? नहीं। वह जिसने अपना मन जीत लिया है।

यदि ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम में जीवन ठीक ठीक बिताया गया हो, और पूर्ण आत्म-संयम की प्राप्तिकी गई हो तो अन्य दो आश्रमों अर्थात् वानप्रस्थ और गृहस्थाश्रमों में जीवन सुगम और आनन्द पूर्ण बन जाता है। एक ऊँचे भवन के लिए सुदृढ नींव की आवश्यकता है अन्यथा ज्यों ही तेज आँधी का आघात लगेगा त्यों ही वह उलट कर गिर जावेगा। केवल ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ नींव पर अध्यात्म-जीवन अट्टालिका का निर्माण किया जा सकता है।

अहिंसा: अहिंसा तीन प्रकार की है: (१) अध्यात्मिक (२)

मानसिक और (१) शारीरिक। भगवान् सब जीवों में निवास करते हैं। जो यह विश्वास करता है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं वह किसी दूसरे व्यक्ति को कैसे हानि पहुँचा सकता है ? यदि तुम किसी व्यक्ति से घृणा करते हो तो वास्तव में तुम उसके हृदय में स्थित भगवान से ही घृणा करते हो। यदि तुम किसी व्यक्ति को चोट पहुंचाते हो तो वास्तव में तुम अपने लिए ही दुष्कर्म (पाप) उत्पन्न करते हो। सच्चा भक्त सब प्राणियों में भगवान् की पूजा करता है, और इसीलिए उसके लिए किसी जीव की हानि करना असम्भव हो जाता है भले ही इन जीवों ने उसका अपकार किया हो। लोग शारीरिक और मानसिक हिंसा समझते हैं। परन्तु आध्यात्मिक हिंसा सबसे खराब है। अपने आध्यात्मिक विकास के लिए कुछ न करना ही आध्यात्मिक हिंसा है। जो कुछ तुम्हें भगवान् के चरणों तक पहुंचाता है, वह महत्वपूर्ण है। यदि तुम मुक्ति के लिए कुछ नहीं करते तो बाहरी बातों में अहिंसा का पालन करने से कोई विशेष लाभ नहीं और न उसमें अधिक सफलता ही मिल सकती है। क्योंकि जब तक कोई व्यक्ति सभी प्राणियों के प्रति ठीक-ठीक पूज्य भाव नही रखता और उनको भगवान् का रूप नहीं मानता तब तक वह दैनिक जीवन के कष्टों व झगड़ों के बीच रहकर अहिंसा का पालन किस प्रकार कर सकता है जहां लोग उसे हानि और चोट पहुंचाने की चेष्टा करते रहते हैं। यदि उसका दृष्टिकोण ठीक हुआ और वह सबमें भगवान् को देखता है तो उसकी उपस्थिति में सारे झगड़े व शत्रुता समाप्त हो जावेगी।

साधना का अंग है उपरोक्त गुणों का प्रयत्नपूर्वक विकास करना। दूसरा महत्वपूर्ण अंग है ऐसी क्रियायें करना

जिनसे भगवन् के प्रति भक्ति उत्पन्न हो और मन पवित्र तथा सत्य का प्रकाश ग्रहण करने योग्य बने। सारांश में इन सबको उपासना कहा जाता है। उपासना के साधन व्यक्ति विशेष के स्वभाव पर और उसके द्वारा पहुंचे गये स्तर पर निर्भर करते हैं। नवसिखुआ साधक स्वभावतः ही प्रार्थना से प्रारम्भ करेगा और इस प्रकार क्रमशः अपनी बहिर्मुखी चेताना को अन्तर्मुखी बनावेगा। उन्नत साधक जिसमें सच्चा वैराग्य है किसी एकान्त स्थान में जाकर अपना सारा समय जप और ध्यान में लगाना चाहेगा। भक्त सदैव भगवान् के रूप और उनकी लीलाओं में अपना मन लगाना चाहेगा ज्ञानी अपनी चेतना में अधिकाधिक डुबकी लगाना चाहेगा और एक के बाद एक उन सभी परदों को हटाना चाहेगा जो सत्य के प्रकाश को आच्छादित किये हैं। अन्ततोगत्वा दोनों एक ही लक्ष्य तक पहुंचेगें परन्तु विभिन्न मार्गो से। साधक की क्रियाएं इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी उन क्रियाओं को करने में उसकी भक्ति-भावना एवं उन्हें पूर्ण करते समय उसकी इच्छा की तीव्रता। उदाहरण के लिए हम प्रार्थना को लें।

प्रार्थना- साधना में प्रार्थना की बड़ी शक्ति है। प्रार्थना का अर्थ है भगवान् के सामने अपना सम्पूर्ण हृदय खोलकर रख देना, न कुछ शेष रखना, न कुछ छिपाना। परन्तु हृदय से निकलने पर ही वह प्रभावशालिनी होती है। प्रार्थना के प्रभाव को ढोंग एवं कपट पूर्णतया नष्ट कर देते हैं। हमें सदैव याद रखना ही चाहिए कि भगवान् सर्वज्ञ हैं और हम उन्हें किसी भी प्रकार से धोखा नहीं दे सकते। वे हमारे हृदयों के गुह्यतम स्तरों को देखते हैं और उनसे कुछ भी छिपा नहीं

रह सकता। भगवान् केवल एक ही भाषा जानते हैं- हृदय की भाषा। यदि तुम झूठी प्रार्थनाएं करोगे तो उन्हें कौन सुनेगा? वह तो शक्ति का अपव्यय है। अपने प्रति सच्चे बनो। ढोंग मत रचो। याद रखने की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि जब तुम प्रार्थना करते हो तो तुमको एकाग्र होना ही चाहिए। मन को भगवान् और केवल भगवान् से पूर्ण होना चाहिए। यदि मन भगवान् सम्बन्धी विचारों और भावनाओं से परिपूर्ण हो जाय तो कोई दूसरा विचार प्रवेश कर ही नहीं सकता। उस प्रकार की प्रार्थना का अभ्यास करो।

प्रारम्भ में यदि तुममें अधिक भक्ति न हो परन्तु यदि तुम सच्चे हृदय से प्रार्थना करोगे तो तुम्हें बाहर और भीतर दोनों ओर से सहायता मिलेगी। अपने सम्पूर्ण हृदय से मीरा और तुलसीदास की तरह भक्ति की प्रार्थना करो। भगवान् तुम्हारी प्रार्थना अवश्यमेव सुनेगें। साथ ही निःसन्देह हमें अपने मन पर सतत् चौकसी रखनी पड़ेगी ताकि कोई अपवित्र विचार प्रवेश न करें। हमें अपने आदर्शों को कार्यान्वित करने का सतत् प्रयत्न करना चाहिए। यदि हम सच्चे हृदय से प्रार्थना करें तो भगवान् हमें तुरन्त ही सब प्रकार के प्रलोभनों से ऊपर उठा लेंगे। प्रलोभनों पर विजय पाने के लिए और अपनी कमजोरियों से युद्ध करने के लिए प्रार्थना सबसे श्रेष्ठ उपाय है। परन्तु प्रार्थना तीव्र और सच्चे हृदय से होनी चाहिए और हममें हमारे चरित्र में से सब कमजोरियों को निकालने के लिए तीव्र इच्छा एवं सच्चा प्रयत्न होना चाहिए।

ध्यान- प्रार्थना, जप एवं इसी प्रकार की दूसरी क्रियायें साधक को क्रमशः उस अवस्था तक ले जाती हैं जहां वह

ध्यान का उच्चतर अभ्यास कर सकता है। ध्यान का आध्यात्मिक अर्थ है मन का भगवान् की ओर ले जाने की क्रिया। भगवान् के चरणों में सम्पूर्ण मन रखना ही चाहिए। यदि तुम्हारा मन सांसारिक वस्तुओं की ओर दौड़ रहा हो तो तुम किस प्रकार ध्यान कर सकते हो? मन की शक्तियां सदैव सैकड़ों वस्तुओं की ओर दौड़ने में नष्ट हो रही है। धन, नाम और शारीरिक सुख की इच्छाएँ तुमको सदैव नीचे की ओर खींच रही है। ऐसी परिस्थितियों में मन एकाग्र नहीं किया जा सकता। जब आसक्तियाँ नहीं रह जातीं तब मन शान्त हो जाता है और तुम आसानी से ध्यान लगा सकते हो।

लोग प्रायः मेरे पास आते हैं और मेरी सहायता से समाधि की अवस्था प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करते हैं। समाधि के सम्बन्ध में उनका विचार पूर्णतया भ्रमपूर्ण है। वे सभी सांसारिक इच्छाओं और वासनाओं से चिपके रहकर सामाधि प्राप्त करना चाहते हैं। वे लोक और परलोक दोनों चाहते हैं जो असम्भव है। यह इसी प्रकार है जैसे कोई व्यक्ति अच्छा संगीत सुनना चाहता हो और नृत्य देखना चाहता हो जब कि एक मोटी दीवाल उसे कलाकारों से अलग कर रही हो। यदि उसमें सच्ची इच्छा हो तो उसे सर्वप्रथम दीवाल तोड़नी ही चाहिए। जब सम्पूर्ण इच्छाएँ त्याग दी गई हों, सभी आसक्तियाँ नष्ट कर दी गई हों और मन पूर्ण विश्रान्ति की अवस्था को पहुंच गया हो तभी समाधि की प्राप्ति हो सकती है। इसके लिए दीर्घकालीन तैयारी एवं मन के सतत् कठोर प्रशिक्षण की आवश्यकता है, और तब इस प्रकार यह देखा जावेगा कि सामान्य सांसारिक

मनुष्य जो अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं और सांसारिक विचारों में लिप्त रहकर समाधि में कूदना चाहते हैं, उनकी वह इच्छा कितनी अर्थहीन है।

अतः यह देखने में आता है कि हम लक्ष्य तक अचानक नहीं पहुंच सकते। हमें शुरुआत करनी ही होगी। हमें इन चीजों को समय देना ही होगा। जब तक परिस्थियाँ अधिक अनुकूल नहीं हो जातीं, जब तक हम अवकाश प्राप्त नहीं हो जाते और जब तक हमें अधिक समय नहीं मिल जाता तब तक के लिए हमें जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य टालना नहीं चाहिए। जब तक हमारा शरीर क्षीण हो जावेगा और आदतें अपनी जड़े जमा लेंगी। जब तक वृद्धावस्था नहीं आ जाती और दूसरी विपत्तियाँ घेर नहीं लेतीं तब तक के लिए जो 'सत्य की खोज' को टालते जाते हैं वे उस मूर्ख की तरह हैं जो घर में आग लगने पर कुआं खोदना प्रारम्भ करता है।

नवाँ अध्याय

सगुण और निर्गुण उपासना

हमारे ऋषिगण दयालु थे। उन्होंने न केवल भगवान् को प्राप्त किया परन्तु वे जनता को भी उनके चरण-कमलों तक ले जाना चाहते थे। यदि वे भगवान् के अव्यक्त स्वरूप का वर्णन करते तो ऐसा कैसे सम्भव था? अतः उन्होने जनता को पूजा के लिए सगुण रूप प्रदान किये। उन्होने कहानियों के साथ अध्यात्म जीवन के सरल सत्य भी प्रदान किये। तुम देखोगे कि कहानियों में वर्णित प्रत्येक घटना के बाद कहानियों में छिपे ज्ञातव्य सत्य को भी प्रकट किया गया है। रामायण, भागवत तथ अन्य पुराणों में भी हम एक दूसरे में समाविष्ट कहानियों और सिद्धान्तों का मिश्रण पाते हैं। कहानियों से उत्पन्न दिलचस्पी के कारण मन अधिकाधिक एकाग्र हो जाता है और तब स्वभावतः अन्तःस्थित सत्य तक पहुंच जाता है।

सगुण और निर्गुण उपासना तत्वतः एक ही हैं, अन्तर केवल इतना है कि सगुणोपासना अधिक सरल है। इसमें कुछ आधार है। सामान्य जीवन में भी हम स्थूल वस्तुओं की सहायता से बालकों को गणित सिखाते हैं। अतः प्रारम्भिक अवस्थाओं में 'रूप' की और साथ ही 'रूप' से सम्बन्धित सुन्दर कथाओं की अत्यन्त आवश्यकता है। केवल 'रूप' पर विचार करने से हमें ज्यादा लाभ नहीं होता। परन्तु राम और कृष्ण से सम्बन्धित कथाओं पर विचार करने से हम में भक्ति जाग्रत हो जाती है। साधारण

लोग निराकार वस्तुओं पर विचार करने में असमर्थ होते हैं परन्तु वे सुन्दर रूप पर आसानी से अपना मन एकाग्र कर सकते हैं और सांसारिक चीजों को कुछ समय के लिए भूल सकते हैं। दिव्य-रूपों की सभी कल्पनाएं एवं अद्भुत प्राकृतिक घटनाएं उनकी सुन्दरता से निःसृत हैं। परन्तु भाव का होना आवश्यक है। बिना भाव के पूजा व्यर्थ है। इन दिव्य-रूपों की पूजा करते समय अन्य सब कुछ भूल जाओ। तुम अपने मन में सब प्रकार के कुत्सित रूपों को रखते हो। तुम अपने मन को शक्ति देने के लिए और भक्ति को प्रज्वलित करने के लिए राम, कृष्ण या अन्य किसी देवता के सुन्दर रूपों का चिन्तन क्यों नहीं कर सकते? ये रूप जड़ नहीं हैं। वे दिव्य-रूप हैं, जिसमें दिव्य शक्ति भरी हुई है और वे तुम्हारे विचारों और भावनाओं को संचालित करने की क्षमता रखते हैं।

दसवां अध्याय

सद्गुरु

'गुरु' शब्द की उत्पत्ति दो अक्षरों से है। गु जिसका अर्थ है अन्धकार और रु जिसका अर्थ है दूर करने वाला 'गुरु' अन्धकार को दूर करने वाला है। सभी सांसारिक गुरुजन एक प्रकार से अन्धकार को दूर करने वाले हैं। वे निम्न लोकों की वस्तुओं का ज्ञान प्रदान करते हैं। सद्गुरु भी अन्धकार को दूर करने वाले हैं परन्तु वे अविद्या के अन्धकार को दूर करने वाले हैं और साधक को 'सत्' अर्थात् सृष्टि के अन्तिम सत्य का ज्ञान प्राप्त कराने में सहायता पहुंचाते हैं। किसी विज्ञान या कला का अध्ययन करते समय हमें उस व्यक्ति के मार्ग प्रदर्शन में रहना पड़ता है जो उस विज्ञान का कला का ज्ञाता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अध्यात्म-जीवन के मार्ग पर चलना चाहता है तो उसे सद्गुरु के मार्ग प्रदर्शन पर चलना होगा जो स्वयं मार्ग पर चल चुका हो और सत्य को प्राप्त कर चुका हो। केवल वही गुरु जो भगवान् को जानता है, तुमको भगवान् से प्रेम करना और प्रेम के द्वारा उस भगवान् को जानना सिखा सकता है। तुमको उन लोगों के पास जाना होगा जिन्होने दिव्य-प्रेम की मदिरा छककर पी ली है और जो अपने स्वयं के अनुभव से तुमको भगवान् के बारे में बता सकते हैं। ऐसा गुरु भले ही सामान्य मनुष्य की तरह दिखाई दे परन्तु यथार्थ में वह मानवता के परे है। संसार के प्रति सहानुभूति होने के कारण न कि अपने लिए

वह बाह्य जगत् में सब प्रकार के कार्यों में रत हो सकता है। उसे न कुछ खोना है, न कुछ पाना है। वह तो स्वयमेव मुक्त है। वह भगवान् या ब्रह्म बन गया है। ऐसे मानवरूपी भगवान् का चेला बनना कितने सौभाग्य की बात है! ऐसा गुरु आध्यात्मिक दृष्टि से सोये हुये मनुष्य को जगा सकता है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब वह मनुष्य गुरु के उपदेशों का पालन करें। वह ऐसे हजारों मनुष्यों के हृदयों में ज्ञान दीप जला सकता है जो अधिकारी हैं। वह कई जन्मों की संचित वासनाओं को उसी प्रकार जला सकता है जिस प्रकार जलती हुई दिलासलाई लकड़ी की ढेरी को जला सकती है। परन्तु ऐसा गुरु दुर्लभ है।

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ।।

जब साधक सच्चे हृदय से खोज करता है और भगवान् को पाने की तीव्र इच्छा रखता है तभी ऐसे गुरु की प्राप्ति होती है। वास्तव में भगवान् ही गुरु के रूप में मिलते हैं। भगवान् केवल प्रेम से आकर्षित होते हैं। वे केवल प्रेम से बंधे हैं, अन्य किसी बन्धन से नहीं।

ऐसे महापुरूष के सम्पर्क से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए साधक को कुछ बातें याद रखनी चाहिए जो गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

सर्वप्रथम शिष्य को अपने गुरु में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। उसे चाहिए कि वह गुरु को ही एकमात्र मार्ग प्रदर्शक माने। उसे चाहिए कि वह एक गुरु से दूसरे गुरु के पास न भागे जैसा कि कई साधकों की आदत होती है। यदि

किसी व्यक्ति को जल प्राप्त करने के लिए कुआं खोदना है तो उसे चाहिए कि वह चुने हुए स्थान पर ही ध्यान जमावे और दृढ़ निश्चयपूर्वक खोदता जाय तब तक कि वह जल तक नहीं पहुंच जाता। यदि वह बार-बार स्थान बदलता है और भिन्न-भिन्न स्थानों पर खोदता जाए तो उसे कभी भी जल नहीं मिलेगा। यह सत्य है कि प्रारम्भिक अवस्थाओं में शिष्य अपने गुरु की महानता नहीं जानता क्यों वह स्वयं अविकसित रहता है। परन्तु जब वह श्रद्धा व भक्तिपूर्वक अपने गुरु की सेवा करता है, और उसके अन्तःचक्षु खुलते जाते हैं त्यों-त्यों वह गुरु की वास्तविक शक्तियों, प्रेम एवं ज्ञान का अपरोक्ष एवं वास्तविक ज्ञान प्राप्त करता जाता है। तब उसकी गुरुभक्ति श्रद्धा पर नहीं बल्कि स्वयं के अनुभव पर निर्भर रहती है और उसे कोई भी शक्ति विचलित नहीं कर सकती। परन्तु इस स्थिति तक पहुंचने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है, सम्पूर्ण हृदय से की गई भक्ति की आवश्यकता है, सेवा की आवश्यकता है, गुरु पर पूर्ण निर्भरता, गुरु की अनन्यता की आवश्यकता है। तुम्हें अपने गुरु पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए और तुम्हारे पास जो कुछ भी है उसे गुरु को समर्पण करना चाहिए। तुम्हें अपने हृदय के सभी दरवाजे उनके लिए पूर्णतया खुले रखना चाहिए और उनसे कुछ भी छिपाकर या गुप्त नहीं रखना चाहिए। जब कमरा खुला हो तभी सूर्य उसे प्रकाशित कर सकता है। वह उस कमरे को कैसे प्रकाशित कर सकता है जिसमें उसकी किरणो का प्रवेश नहीं होता। यही कारण है कि सभी महान् गुरुओं ने भक्ति और सेवा पर बड़ा जोर दिया है। परन्तु सेवा सम्पूर्ण हृदय से की गई सत्य, पवित्र और निष्कपट

होनी चाहिए। जहां शिष्य का दृष्टिकोण ठीक हुआ वहां वह धीरे-धीरे दृढ़ता से परन्तु अविराम गति से बदलता जाता है और अधिकाधिक अपने गुरु के समान बनता जाता है, जो मनुष्य के रूप में भगवान् हैं।

गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में दूसरी सबसे महत्वपूर्ण चीज है व्यक्तिगत सम्पर्क। हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं में पारस पत्थर का वर्णन मिलता है जो तांबा को सोना बना देता है। परन्तु पत्थर को तांबे का स्पर्श करना ही पड़ता है। दोनों को अलग-अलग रखने से फल प्राप्ति नहीं होगी। अतः गुरु और शिष्य का सम्पर्क या सत्संग आवश्यक है। तब शिष्य सोना नहीं बल्कि पारस ही बन जाता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि केवल शारीरिक सम्पर्क आवश्यक नहीं है बल्कि हृदय और मन का सम्पर्क ही शिष्य में परिवर्तन ला सकता है। गुरु के प्रति शिष्य के दृष्टिकोण-भाव पर ही शक्ति का प्रवाह निर्भर है। केवल श्रद्धा और प्रेम ही आवश्यक नहीं हैं परन्तु आज्ञापालन और निष्काम सेवा भी आवश्यक हैं। शिष्य को यह अवश्यमेव अनुभव करना चाहिए कि उसे जो कुछ मिल रहा है और आध्यात्मिक मार्ग पर वह जो कुछ उन्नति कर रहा है वह सब गुरु की अपार कृपा का फल है। मतभेद होने से कुछ नहीं बिगड़ता यहां तक कि यदि शिष्य को विश्वास हो कि वह सिद्धान्त के लिए लड रहा हो तो विरोध होने से भी कोई हानि नहीं। दयालु सद्गुरु इसे समझ जायेंगे और बुरा नहीं मानेगें। उल्टे वे यह जानकर प्रसन्न होंगे कि शिष्य में सत्य के लिए लड़ने का साहस है। परन्तु निष्कपटता, सच्चाई एवं सही कार्य करने के लिए दृढ़ता की नितान्त आवश्यकता है।

लोगों के मन में गुरु कृपा के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाएं हैं। यह सत्य है कि आध्यात्मिकता गुरु से शिष्य तक ठीक उसी प्रकार पहुंचाई जा सकती है जिस प्रकार संपत्ति एक धनवान् व्यक्ति से निर्धन व्यक्ति तक पहुंचाई जाती है। परन्तु यह पहुंचाने का कार्य अचानक या मनमाना नहीं होता जो केवल शिष्य के मांगे जाने पर ही निर्भर हो। शिष्य को अपनी मुक्ति के लिए स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। गुरु कृपा पाने की कामना रखने के पहले उसे आवश्यक गुणों का विकास करना ही पड़ता है। वास्तव में गुरुकृपा शिष्य के प्रयत्नों का फल है। प्रयत्न का अर्थ केवल सेवा के ठोस कार्यो को करना ही नहीं है परन्तु इसमें उचित भावना का विकास करना भी शामिल है जैसे आत्मसमर्पण। आत्मसमर्पण कोई अभावात्मक गुण नहीं है जैसा कि लोग प्रायः समझते हैं। इसमें प्रचण्ड शक्ति भरी है और इसके लिए महान् और अटूट प्रयत्न की आवश्यकता है परन्तु यह साधना के क्षेत्र में अन्य साधनों की तरह गुरु कृपा से प्राप्त कर सकता है। गुरु कृपा और उसके प्रवाह के स्वभाव को समझने के लिए हमें जलप्रवाह के उदाहरण को समझना होगा। पानी हमेशा ऊंचे स्थान से नीचे स्थान की ओर बहता है, उल्टी दिशा में कभी नहीं बहता। अतः विनम्रता, दीन-भाव का होना परम आवश्यक है यदि कोई शक्ति की परवाह नहीं करता अथवा आत्म सर्मपण का सही भाव नहीं अपनाता तो शक्ति कैसे प्रवाहित हो सकती है। यदि दीन भाव हो तो दूसरी सब चीजें आप से आप आती है, यहां तक कि बाधाएँ भी हटा दी जाती हैं अतः शिष्य को पहले योग्य बनाना चाहिए फिर किसी चीज की इच्छा करनी चाहिए।

योग्यता आवश्यक है। प्रशिक्षण आवश्यक है। यहां तक कि सद्गुरु की प्राप्ति भी किसी के कर्मो पर निर्भर है। कई लोगों को आश्चर्य होता है कि केवल गुरु पर श्रद्धा रखने से काम चल सकता है या नहीं? वे इस बात से भयभीत होते हैं कि कोई उन्हें लूट न ले अथवा उन्हें गलत रास्ता न बतावें। यद्यपि सामान्य गुरु द्वारा किसी व्यक्ति के लूट लिये जाने की सम्भावना है फिर भी हमें यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हम एक ऐसे संसार में निवास करते हैं जिसका संचालन नियम से होता है और हम प्रायः वही पाते हैं जिसके हम योग्य होते हैं। यदि कोई साधक पूर्णरूप से निष्कपट हो और भगवान् को पाने की तीव्र इच्छा रखता हो तो इसकी बहुत कम सम्भावना है कि वह किसी धोखेबाज मनुष्य के हाथ में पड़ जाए। घटनाएं अचानक नहीं होतीं परन्तु वे कर्म के नियम के अनुसार होती है जो सब का नियंत्रण करता है। यदि साधक में सच्ची लगन हो और अपने गुरु से अपार श्रद्धा रखता हो तो वह अपने गुरु से अपनी सभी आवश्यक चीजें प्राप्त करने में सफल होगा, भले ही लोगों के दृष्टिकोण से गुरु उसकी सहायता पहुंचाने में असमर्थ हो। क्योंकि सभी सहायताएं वस्तुतः भगवान् से प्राप्त होती हैं और भगवान् ही इसकी आवश्यकतानुसार उसकी सहायता करेगा, भले ही उसका साधन (जरिया) आदर्श न हो। इसके सिवा, ज्यों-ज्यों हमारा मन अधिकाधिक पवित्र होता जाता है। त्यों-त्यों हमारे विवेक की शक्ति बढ़ती जाती है और विवेकपूर्ण मन से हमारे लिये किसी अयोग्य व्यक्ति को गुरु चुनना सम्भव नहीं। प्रायः केवल विवेकहीन लोगों को ही अविवेकी गुरु मिलते हैं। साधकों के

सामने जो दूसरी कठिनाई उपस्थित होती है वह है गुरु और इष्टदेव में भक्ति का बँटवारा। साधक को भगवान् में भक्ति रखनी चाहिए या गुरु में, या दोनों में? इस विषय में शिष्य को एकमात्र गुरु के उपदेशों के अनुसार ही चलना चाहिये और ठीक वही कार्य करना चाहिये जो उसके गुरु कहें। शिष्य के स्वभाव और उसमें विद्यमान शक्तियों को गुरु, शिष्य की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह जानता है और यद्यपि गुरु के उपदेश कड़वे लगे या उचित न जान पड़े तथापि अन्त में यही सिद्ध होगा कि वे उन परिस्थितियों में सर्वोत्तम थे। इसके अतिरिक्त इष्टदेवता और गुरु में अलग-अलग भक्ति रखने की कठिनाई उन दोनों के स्वभाव और आपस में उनके सम्बन्ध की जानकारी न रखने पर आधारित हैं। वस्तुतः उन दोनों में कोई भिन्नता नहीं। सद्गुरु इष्टदेवता का स्वरूप ही है और इसी प्रकार उसे मानना भी चाहिये। तब भक्ति की भिन्नता का प्रश्न ही नहीं उठेगा। हम पत्थर की मुर्तियों में भगवान् की पूजा करते हैं। फिर हम गुरु की जीती-जागती प्रतिमा में उसकी पूजा क्यों नहीं कर सकते भगवान हमारा सम्पूर्ण हृदय चाहते हैं। **भावप्रियो माधवः।** तुम किसी भी प्रकार से उसकी पूजा कर सकते हो परन्तु तुम्हें अपने सम्पूर्ण हृदय से उसकी पूजा करनी चाहिये।

स्वामी ब्रह्मानन्द जी के संस्मरण

लेखक - स्वामी पुरूषोत्तमानन्द

जब मैं लगभग १४ साल का विद्यार्थी था तब मैने अपने स्कूल के हेड मास्टर जी से श्रीरामकृष्ण जी का नाम सुना उसी क्षण से मैं श्री रामकृष्ण जी के प्रति आकर्षण और भक्ति का अनुभव करने लगा। मैं प्रबुद्ध भारत में लेख इत्यादि देने लगा। लगभग सन् १६१० में मैं श्री तुलसी महाराज जी से मिला जिन्हें हरिपाड़ में आमंत्रित किया गया था उन्होंने मुझे अपनी शरण में ले लिया और 'भक्त नीलकण्ठ' नाम दिया। उन्होंने मुझे कार्य करने लिये और कुछ लड़कों को प्रशिक्षण देने के लिए कहा जिनमें से कुछ अभी यहां वहां कुछ आश्रमों में प्रधान हैं। तिरुवल्ला में हमारी एक सभा थी। श्री एम०आर० नारायण पिप्ले, जो उस समय तिरुवल्ला में मुन्सिफ थे, श्रीरामकृष्ण के बड़े भक्त थे और श्री तुलसी महाराज जी के निर्देशन में हमने एक आश्रम बनाने का कार्य प्रारम्भ किया जिसकी नींव सन् १६११ में स्वामी निर्मलानन्द महाराज जी के द्वारा डाली गई जो तिरुवल्ला में आमंत्रित किये गये थे। सन् १६१३ में उनके द्वारा उस आश्रम का उद्घाटन किया गया। उसी साल हरिपाड के आश्रम का भी उद्घाटन किया गया। मुझे तिरुवल्ला के आश्रम का कार्यभार सौंपा गया और डा० चल्लप्पा को, जो आजकल स्वामी चित्सुखानन्द जी हैं, हरिपाड के आश्रम का कार्यभार सौंपा गया।

सन् १६१६ में श्री तुलसी महाराज जी ने हमको

श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज

लिखा कि वे श्री अध्यक्ष महाराज जी को कन्या कुमारी ले जाना चाहते हैं, मुझसे कहा गया कि मैं उनका सम्मान करने और उनकी सेवा करने लिए सीधे आलुवा चला आऊं। अतः मैं आलुवा पहुंचा और एक दिन सायंकाल में श्री अध्यक्ष महाराज जी और उनकी पार्टी आलुवा स्टेशन पर उतरी। पद्मनाभन तम्पी और दूसरे लोगों ने श्री महाराज जी के लिये दो-तीन दिन तक ठहरने के लिये एक बंगले का प्रबन्ध किया था।

मैं कई वर्षो से श्री तुलसी महाराज जी की सेवा कर रहा था परन्तु उन्होंने मन्त्र या ध्यान के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा था, परन्तु अब अचानक ही उनके मुंह से निकला ''भक्त ! तुम्हारे भगवान् आ गये हैं। तुम उनकी सेवा करो और दीक्षा ले लो।''

मैं विभिन्न कार्यो में व्यस्त था, क्योंकि हम श्री महाराज जी को आराम पहुंचाना चाहते थे। जब कभी मुझे समय मिलता था तब मैं उनके पास चला जाया करता था और उनके चरणों के पास बैठा रहता था। जब मैं उनकी ओर देखता था तो मैं उन पर से अपनी आंखे नहीं उठा सकता था। उस समय मैं नहीं समझ सका कि वह कौन-सी वस्तु थी जो न केवल मेरे 'नेत्रों' को अपितु सम्पूर्ण शरीर को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी। वे अध्यात्मिकता के झरने थे, सदैव समाधि में स्थित रहते थे। उनके शब्द अल्प और सरल होते थे परन्तु वे शक्ति से परिपूर्ण होते थे। वे मुझसे पूछा करते थे 'तुम क्या चाहते हो, तुम क्या चाहते हो? जब मैंने उनकी ओर उत्सुकता से देखा तो मैं अपनी इच्छा व्यक्त नहीं कर सका। मैने केवल उनसे प्रार्थना की

कि वे जो चप्पल पहने थे उन्हें मुझे दे दें। उन्होंने मुझसे कहा, "मैं इन चमड़े के चप्पलों को तुम्हें नहीं दूँगा। मैं तुम्हें कलकत्ता से खड़ाऊं भेज दूंगा, जिनका मैं उपयोग किया करता था। वर्तमान अध्यक्ष स्वामी शंकरानन्द जी उस समय श्री महाराज जी के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। श्री महाराज जी ने उनसे कहा कि मेरे पास खड़ाऊं भेजना न भूलें और वे (खड़ाऊं) मेरे पास उचित रीति से भेज दिये गये। "मैं जहां जाता था वहां उनको ले जाता था और इस समय वे तिरुवल्ला के आश्रम में हैं। मैंने जानबूझकर उनको वहां रखा ताकि उस स्थान की प्रगति और उन्नति हो।"

आलुवा में कई लोग महाराज के पास अपनी श्रद्धा अर्पित करने आए। वे बातचीत से दूर रहने का प्रयत्न करते थे। वे उनको श्री तुलसी महाराज जी के पास भेज देते थे। उन्हें यह स्थान प्रिय था विशेषतः नदी का दृश्य उन्हें बड़ा प्रिय था, भले ही वर्षा हो रही हो।

आलुवा से हम कोट्टयम् की ओर रवाना हुए। श्री महाराज जी के साथ-श्री पद्मनाभन तम्पी, सुपरिन्टेण्डेन्ट ऑफ पुलिस और श्री एम०आर० पिल्ले, मुन्सिफ और दूसरे लोग थे। हम स्टीम बोट से कोट्टयम् की ओर बढ़े। मौसम तूफानी होने के कारण बोट ऊपर-नीचे होने लगा। हमने बेचैनी की रात बिताई, परन्तु हम दूसरे दिन प्रातः काल सकुशल कोट्टयम पहुंच गये। महाराज मुझसे कहते रहते थे "मत डरो। मत डरो।"

श्री तम्पी जी ने श्री महाराज जी और उनके दल के सब लोगों को ठहराने के लिए स्थान का प्रबन्ध किया था। वहाँ भी कई स्थानों से कई लोग आकर उनके पास भीड़

लगा देते थे। दो दिनों तक ठहरने के बाद श्री महाराज जी अपने प्राइवेट सेक्रेटरी और श्री तम्पी जी के साथ हरिपाड आश्रम के लिए मोटर से रवाना हुए। मार्ग में अनेकों स्थानों पर प्राचीन हिन्दू प्रणाली के अनुसार दीपों और आरती से उनका स्वागत किया गया।

जब वे हरिपाड पहुंचे तो ब्रह्मचारी चेल्लप्पा और दूसरे लोग बड़ी उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे और वे वैदिक प्रणाली से वैदिक मंत्रोच्चारण, संगीत तथा दूसरी टीमटाम की वस्तुओं से उनका स्वागत करना चाहते थे परन्तु मैंने सुना कि महाराज आडम्बर ओर दिखावा नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा " क्या मैं बारात में जा रहा हूं ?"

कोट्टयम् में मैं स्वामी दुर्गानन्द जी, भूमानन्द जी, यतीश्वरानन्द जी, ब्रह्मचारी गोपाल और दूसरे लोगों के साथ स्टीम बोट से हरिपाड को चल पड़ा। हम बहुत रात बीते आश्रम पहुंचे। श्री महाराज जी विश्राम कर रहे थे। मैं गया और उनके सामने दण्डवत् करके धीरे-धीरे चला आया। श्री तुलसी महाराज जी के आदेशानुसार मैनेजर सुब्बाराम अय्यर जी ने सारा प्रबन्ध कर दिया था और आश्रम में श्री महाराज जी का समय शान्तिपूर्ण ढंग से बीतता था। उन्हें यह स्थान बड़ा प्रिय था।

दूसरे दिन, आने पर श्री तुलसी महाराज जी ने मुझसे कहा, "हाँ ! भक्तन् ! कल महाराज जी कृपापूर्वक तुम्हें दीक्षा देंगे, अतः तैयार हो जाओ। रात में और प्रातःकाल भी दीक्षा के पहले कुछ मत खाओ-पियों।" दूसरे दिन प्रातः काल मैं तैयार हो गया। दीक्षा का कार्य मठ के भीतर रखा गया था। श्री महाराज जी ने पहले ही आसन

ग्रहण कर लिया था। श्री शंकरानन्द जी महाराज द्वार पर विराजमान थे। वह दृश्य अभी तक मेरे मन में अंकित है। श्री तुलसी महाराज जी ने मेरे पास खबर भेजी और श्री शंकरानन्द जी मुझे भीतर ले गये। मैं क्या देखता हूं कि स्वयं श्री दक्षिणा मूर्ति जी अपनी तेजपूर्ण महानता के साथ मौन धारण किये हुए सबको आशीर्वाद देने के लिए विद्यमान हैं। मैं उनके चरणों पर गिर पड़ा। आचमन आदि प्रारम्भिक कृत्यों के पश्चात् उन्होंने मेरे हृदय में पवित्र मन्त्र की स्थापना की। मैं अत्यधिक आनन्दित हो उठा और मैंने अनुभव किया कि मैं धन्य हूँ मैं धन्य हूँ। फिर मैंने अपनी तुच्छ भेंट उनके चरणों में अर्पित की और चुपचाप बाहर आ गया, फिर मैं अपने आपको भूलकर श्री महाराज जी के कमरे में घण्टों बैठा रहा। उसी दिन सुब्बाराम अय्यर आदि कई लोगों को दीक्षा दी गई।

श्री महाराज जी आश्रम में बड़े आनन्द से थे। ब्रह्मचारी चेल्लप्पा चाहते थे कि श्री महाराज जी को आश्रम में अधिक समय तक रोकें पर वे रुक नहीं सकते थे। तीन या चार दिनों के बाद श्री महाराज जी व उनकी पार्टी को डा० तम्पी की प्रार्थना पर, कोल्लम् के लिए हरिपाड छोड़ना पड़ा। डा० तम्पी उस समय कोल्लम् में डाक्टर के रूप में प्रैक्टिस कर रहे थे और उन्होंने कई वर्ष पहले श्री महाराज जी से दीक्षा ली थी।

हम पुनः स्टीम बोट से रवाना हुए। श्री महाराज जी हम सबको सुखी और आनन्दित बना रहे थे। श्री महाराज जी के रहने के लिए एक विशाल भवन में व्यवस्था की गई थी। वहां अनेकों लोग इकट्ठे हो जाते थे परन्तु श्री महाराज

जी भीड़ से दूर रहना चाहते थे। डा० तम्पी श्री महाराज जी पर पूर्ण भक्ति रखते थे। एक दिन प्रातः काल श्री महाराज जी बिना पूर्व सूचना दिये ही डाक्टर के घर जा पहुंचे। डाक्टर और उनके परिवार के लोग बड़े आश्चर्य में पड़ गये और उनको यह नहीं सूझ पड़ा कि उस समय वे क्या करें? परन्तु उनका भवन पवित्र हो गया।

कोल्लम से हम तिरुअनन्तपुरम् के लिए रवाना हुए। तिरुअनन्तपुरम् में श्री महाराज जी के ठहरने की व्यवस्था देखने के लिए कुछ भक्तों का समुदाय पहले ही रवाना हो गया था। वहाँ एक वेदान्त सोसाइटी' थी जिसमें जर्मनी से लौटे हुए पद्मनाभन् पिल्ले नामक एक महाशय बड़ी दिलचस्पी लेते थे। श्री महाराज जी ने प्राइवेट सेक्रेटरी और श्री तुलसी महाराज जी के साथ कोल्लम् पहले ही छोड़ दिया और उनके बाद हम लोग रवाना हुए। तिरुअनन्तपुरम् में भव्य स्वागत हुआ जिसमें मैं उपस्थित नहीं हो सका। भवन, दीपमालाओं से सुसज्जित किया गया था।

'वेदान्त सोसाइटी' ने रामकृष्ण आश्रम खोलने के लिए वटिट्यूर काब में ऊँचाई पर जमीन का एक टुकड़ा प्राप्त कर लिया था। किसी शुभ दिन श्री महाराज जी उसका शिलान्यास करने वाले थे। वह स्थान नगर से चार-पाँच मील दूर था और बड़ा ही शान्त था। उन दिनों सड़कों पर बहुत कम मोटरें व दूसरे वाहन मिलते थे। उस शुभ कार्यक्रम में अनेकों लोग भाग लेना चाहते थे। श्री तुलसी महाराज जी एक रात पहले ही उस स्थान पर पहुंच गए और उन्होंने कुछ पूजा और होम करवाया। श्री महाराज जी बड़े तड़के ही मोटर से उस स्थान पर पहुँच गये। हम

लोगों ने उनका अनुसरण किया, कुछ पैदल गये और कुछ तांगा आदि पर गये। वहाँ बड़ी भीड़ थी। बड़ा ही मनोहर दृश्य उपस्थित हुआ जब श्री महाराज जी ने स्वयं अपने हाथों से शिलान्यास किया। प्रसाद बाँटा गया। एक फोटोग्राफ लिया गया। कुछ आश्रमों में यह फोटोग्राफ देखा जा सकता है। श्री महाराज जी बड़े प्रसन्न हुए। साधन-भजन के लिए यह स्थान अत्यन्त उपयुक्त था।

सब लोग एक-एक करके जा रहे थे। मैं श्री महाराज जी के निकट ही था। वे बड़े प्रसन्न होकर मुझसे कह रहे थे, 'भक्त, तुम देख रहे हो कि यह कितना सुन्दर स्थान है। तुमको कुछ ब्रह्मचारी बनाना ही चाहिए। जब भवन-निर्माण का कार्य पूर्ण हो जाए तब उन्हें यहाँ रहने दो और तपस्या करने दो- तपस्या के लिये यह बड़ा ही सुन्दर स्थान है। श्री तुलसी महाराज जी ने कठोर परिश्रम किया जिसके फलस्वरूप वहाँ एक सुन्दर आश्रम का जन्म हुआ।

दक्षिण में आने का श्री महाराज जी का एकमात्र उद्देश्य था कन्या कुमारी में माता जी (देवीजी) का दर्शन करना। अतः वे इस स्थान में आने के लिए शीघ्रता कर रहे थे। उनको शीघ्र ही तिरुवल्ला छोड़ना था। वे कार से कन्याकुमारी पहुंचे। हम सबने उनका अनुसरण किया। श्री महाराज जी और उनकी पार्टी के कुछ चुने हुए लोगों को एक दुमंजिले भवन में ठहराया गया और हम सब लोग सरकारी धर्मशाला में ठहरे। मैं सोचता हूं कि किसी संध्या को वे मंदिर में सबसे पहले आये। प्रायः हम उनके साथ कीर्तन करते हुए जाया करते थे। उन्होने शान्त एवं नीरव मंदिर में प्रवेश किया और धीरे-धीरे वे देवी की मूर्ति के

अधिकाधिक निकट आते गये। सारा भीतरी भाग प्रकाशित किया गया था। संगीत और आरती का कार्यक्रम चल रहा था, हम लोग श्री महाराज जी को हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए देख रहे थे। वे पूर्णतया शान्त थे, उनका मुख प्रकाश और आनन्द से चमक रहा था एक साधारण व्यक्ति भी देवी के सामने आनन्द और सुख का अनुभव करता है। बड़ा ही मनोहर रूप है, अत्यधिक सुन्दर। वे वहां बहुत समय तक रहना चाहते थे। परन्तु पूजा-पद्धति ऐसी है कि किसी व्यक्ति को उस दिव्य वातावरण में अधिक समय तक रहने की इजाजत नहीं है।

श्री महाराज जी अपने निवास स्थान को जाने की तैयारी कर रहे हैं। कई कुमारी कन्याएं उनके पास जाती हुई दिखाई दे रही हैं। उनका बर्ताव व बच्चियों के प्रति अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण एवं दयापूर्ण था। श्री तुलसी महाराज जी रूपयों से भरी थैली लिए उनके पास ही स्थित हैं। वे श्री महाराज जी का स्वभाव जानते हैं। वे श्री महाराज जी को रूपयों पर रूपये दे रहे हैं और श्री महाराज जी उनको उन बच्चियों को बांट रहे हैं।

श्री महाराज जी वहां अवश्य ही एक-दो हफ्ते ठहरे होंगे। वे जब-जब मन्दिर जाते थे तब-तब वे सबको पैसा बांटते थे। छोटी बच्चियों के संग में उनको बड़ा आनन्द आ रहा था। कभी-कभी वे उनको भोजन भी कराते थे। उनकी कुमारी पूजा समाप्त हो गई थी। वे उनके खेल और नृत्य में आनन्द ले रहे थे। वे स्वयं भी बच्चे की तरह आचरण करते थे। वे बच्चे की तरह थे परन्तु उनसे सब डरते थे। उनकी उपस्थिति में सभी कार्य आपसे सुचारु रूप से होने

लगते थे। वे किसी भी हालत में कन्या कुमारी नहीं छोड़ना चाहते थे। वे एक बार मुझसे कहने लगे, "भक्त" मैं कलकत्ता जाना ही नहीं चाहता। आह ! मेरी इच्छा है कि मुझे यहा एक कुटीर मिल जाए और मैं यहां अपने जीवन का शेष भाग बिताऊं।" त्याग की भावना देखिये। सच्चे महात्माओं की यही विशेषता है। यद्यपि वे राजा थे फिर भी अपनी चीजों की कोई परवाह नहीं करते थे। वे जल में कमल पत्रवत् थे।

यहां भी ऐसे बहुत से व्यक्ति थे जो श्री महाराज जी से दीक्षा पाने के लिए उत्सुक थे। श्री महाराज जी से दीक्षा पाना सरल काम नहीं था। ऐसा प्रतीत होता था कि वे इसे नहीं चाहते थे। श्री तुलसी महाराज जी और श्री शंकर महाराज जी को कुछ लोगों के लिये पैरवी करनी पड़ी। कुछ भाग्यवान् लोगों में श्री शेषाद्रि और श्री पद्मनाभन पिल्ले जी भी थे जिन्हें दीक्षा मिली। तिरुवेल्ल में श्री शेषाद्रि जी अभी भी आनन्दपूर्ण जीवन बिता रहे हैं। श्री पद्मनाभन् पिल्ले जी भी श्री महाराज जी के बड़े भक्त थे परन्तु अब वे नहीं रहे।

कन्याकुमारी में सब लोग बड़े प्रसन्न थे विशेषतः श्री महाराज जी। परन्तु कुछ लोग वहां के भोजन से संतुष्ट नहीं थे। उस समय वहां अच्छा भोजन प्राप्त करना बड़ा ही कठिन था। कीमत भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी।

श्री महाराज जी और उनकी पार्टी कन्याकुमारी छोड़ने वाली थी। नागर कोविल के इंजीनियर श्रीथानू पिल्ले जी ने श्री महाराज जी से प्रार्थना की कि वे नागर कोविल में अपनी यात्रा भंगकर वहां कुछ रात बितावें। अतः

हम सब लोग वहां रुक गये। उन्होंने भव्य भोज दिया। श्री पिल्ले जी तथा अन्य व्यक्तियों के साथ कुछ बातचीत करके श्री महाराज जी ने विश्राम किया। दूसरे दिन प्रातः काल उन्होंने नागरकोविल छोड़ दिया और कोल्लम् पहुंचे। वे इस बंगले में ठहरे जो पहले उनके ठहरने के लिए लिया गया था। वहां प्रतिदिन नियमित रूप से उत्सव हुआ करते थे। श्री महाराज जी के हर प्रकार से सेवा करने के लिए डाक्टर बड़े उत्सुक थे। निश्चित समय पर जनसभा होती थी जिसमें श्री तुलसी महाराज जी लोगों से चर्चा करते थे। श्री शंकर महाराज जी भी कुछ लोगों का स्वागत करते थे और उन्हें आदेश एवं उपदेश देते थे। श्री महाराज जी को इन सब में बड़ा आनन्द आ रहा था। यहां भी कुछ अधिक भाग्यशाली लोगों को श्री महाराज जी से दीक्षा मिली, जिनमें से दो व्यक्ति हैं श्री आगमानंद जी और श्री चन्द्रशेखर पिल्ले जी।

फिर श्री सुब्बाराम अय्यर जी और श्री चेल्लप्पा जी फिर से श्री महाराज जी को हरिपाड़ ले जाने के लिए हरिपाड़ से आये। यद्यपि श्री महाराज जी को वह आश्रम प्रिय था, परन्तु उन्हें शीघ्रातिशीघ्र मुख्य निवास स्थान तक पहुंचना था, अतः वे शीघ्रता करने लगे। मैं भी श्री महाराज जी के साथ कलकत्ता जाना चाहता था। मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे मुझे कलकत्ता ले चलें। उन्होने मुझे अपने साथ चलने की अनुमति दे दी। परन्तु श्री तुलसी महाराज जी बड़े कठोर थे। वे अपने स्वाभाविक ढंग से मुझे सुनाने लगे, 'तुम दूर जाना चाहते हो। यहां आश्रम की देख-रेख कौन करेगा? इससे मेरी आंखों में आंसू आ गये। मुझे वापिस रुकना पड़ा। श्री महाराज जी और उनकी पार्टी ने एक स्पेशल

स्टीम बोट से कोल्लम् छोड़ दिया। हम में से कुछ लोग हरिपाड़ के निकट स्थित एक स्थान तक उनके साथ गये और वहां मुझे पीछे रुकना पड़ा।

श्री महाराज जी का व्यक्तित्व भव्य एवं आकर्षक था। उनके सभी कार्य आकर्षक एवं भव्यता से परिपूर्ण होते थे। मैं उनकी सेवा करना चाहता था। परन्तु मैं ऐसा कैसे कर सकता था? मैं यह नहीं जानता था। एक बार स्वामी भूमानन्द जी उनके शरीर में तेल की मालिश कर रहे थे। मैं भी पास गया और वैसा ही करने लगा और तब श्री महाराज जी ने कहा 'भक्तन तो पेंटिंग कर रहा है। लगातार जोर लगाकर ही तेल लगाना चाहिए।'

यहां मैं विश्राम लेता हूं। और अधिक क्या कहा जाय? श्री महाराज जी से बिछुड़ने के बाद मैं कई दिनों तक उत्साहहीन रहा परन्तु धीरे-धीरे मैं अपनी पूर्व अवस्था में आ गया। अब श्री महाराज जी अपने धाम में है।

जय जय श्री गुरु महाराज!